दण्ड
डॉ. हरिहरनाथ त्रिपाठी
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला ६८
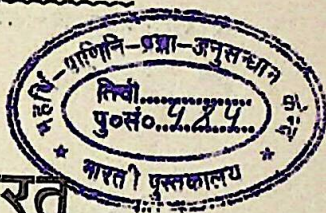
प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी

आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०

राजनीतिशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२१

मूल्य : ~~.~~००

phone : 3076

'तुम' को

आभार

प्रस्तुत पुस्तक की धारणा उस समय मस्तिष्क में आयी जब मैं 'प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका' के विषय पर पी-एच० डी० के लिए कार्य कर रहा था। उस समय प्रबन्ध के प्रत्येक अध्याय इस रूप में सामने आते गये कि उन पर स्वतन्त्र शोधग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई। लेकिन थीसिस को विश्वकोश तो बनाना नहीं था अतएव उसे उस रूप में पूरा कर विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्र रूप से लिखना ही उचित समझा। थीसिस से मुक्ति मिलने पर इस विषय की सामग्री का प्रयोग प्रारम्भ किया। विषय प्रारम्भ करते समय इसे दूसरा रूप देना चाहता था। इस विषय का सम्बन्ध ऐकान्तिक नहीं है। सम्बद्ध विषयों के साथ अध्ययन करने पर इसका वास्तविक रूप सामने आता है। इस पृष्ठभूमि में कार्य प्रारम्भ किया। लेकिन लगता है कि हमारी इच्छा किसी और की इच्छा के वशीभूत है और अचानक इसे यथाशीघ्र प्रकाशित करने की स्थिति आ गई। फलतः तत्काल इसे प्रेस में देना पड़ा। जिस रूप में पुस्तक सामने है उसमें तुलनात्मक अध्ययन या ऐसी सामान्य बातों की आवश्यकता के स्थान पर इस बात पर ध्यान दिया गया है कि सामाजिक शक्तियाँ इसका निर्धारण किस रूप में करती हैं। इस अंश में पुस्तक हमारी ओर से पूर्ण है। इस पर हमारे शुभैषी विद्वान् जो भी सुझाव देंगे हम उनका उपयोग अपने अंग्रेजी-संस्करण में अवश्य करेंगे।

इस विषय पर दासगुप्त की पुस्तक अंग्रेजी में बहुत पहले प्रकाशित हुई है। उसके अतिरिक्त अंग्रेजी या हिन्दी में अन्य कोई पुस्तक नहीं है। शोध-पत्रों में भी अब तक अत्यन्त न्यून कार्य हुआ है। लेकिन जो कुछ

हुआ है उससे हमने लाभ उठाया है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों एवं विद्वानों का लाभ उठाया है उनको उद्धृत किया और उनमें से कुछ की सूची भी अन्त में दे दी है। सम्भव है कहीं नाम देने में भ्रम हो गया हो तो विद्वान् हमें क्षमा करेंगे।

डॉक्टर के० वी० राव, अध्यक्ष राजनीति विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, से हमने विचार विमर्श से इस अंश में लाभ उठाया है। वे न्यायपालिका पर स्वयं डी० लिट्० तक कार्य करने के अतिरिक्त शोध लेखों में कार्य करते रहते हैं। शोध-कार्य में उनकी विशेष रुचि है। प्रस्तुत पुस्तक से उन्हें प्रसन्नता होगी। यह उनकी स्वभाव-सिद्ध सरलता ही है अन्यथा इस पुस्तक में उनके लिए क्या मिल सकेगा! वे हिन्दी में उच्च-स्तरीय एवं सन्तुलित पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन पर अधिक बल दे रहे हैं। इस भाव से उन्होंने जो प्रोत्साहन एवं सहयोग दिया उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। विभाग के अन्य आचार्यों एवं सहयोगियों की सहज-कृपा-भाव का मुझ पर सदा आभार रहेगा। आशा है प्रस्तुत विषय पर उनके बहुमूल्य सुझाव अवश्य मिलेंगे।

विज्ञान के चरण ने समाज को आकाश में पहुँचा दिया या पाताल में; लेकिन व्यक्ति के व्यक्तित्व को इतना उलझा दिया कि वह शान्ति और धैर्य से कोई कार्य कर सकेगा इसमें सन्देह है। जीवन विज्ञान की गति से भी तीव्र गति में भाग रहा है। एक समय भाग्यवादी कहता था "क्षण का अर्द्ध भी नहीं जाना जा सकता कि उसमें ब्रह्मा क्या करेगा?" आज समाज का सारा ढाँचा और उसमें व्यक्ति की स्थिति के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता कि अगला क्षण क्या होगा? व्यक्ति अपनी स्थिति से विश्वास-हीन हो चुका है। इसका परिणाम स्वाध्याय पर अत्यन्त व्यापक रूप में पड़ा है। इन परिस्थितियों का प्रभाव हम पर गम्भीर रूप से पड़ रहा है। फलतः स्वाध्याय की पूर्ण निष्ठा व्यवहार में ले आना कठिन हो रहा है। फिर भी यदि कुछ अवसर मिला तो 'नियन्ता-शक्ति' का आभार ही मानना पड़ेगा।

हिन्दी में इधर कुछ वर्षों में जितना शोधपूर्ण कार्य हुआ है उसे देखते हुए स्पष्ट है कि हिन्दी बहुत आगे जा चुकी है। फिर भी अनेक विद्वान् हिन्दी छोड़ने में ही अपना 'भला' समझते हैं! इसका उत्तर-दायित्व मैं हिन्दी कार्यों के नेतृत्व करने वालों पर ही रखता हूँ। वे स्वयं इस ओर कार्यरत हैं नहीं, और अपनी एक सीमा में ही कार्य योजना निश्चित कर चुके हैं। हिन्दी में जो कुछ लिखा जाय वह उनके सूत्रों से आगे पीछे हो तो वे उसे ग्राह्य नहीं मान सकते। आश्चर्य तो यह है कि इस नेतृत्व करने वाली पीढ़ी ने अभी तक हिन्दी के सम्बन्ध में कोई मापदंड नहीं स्थापित किया जिससे हम अपने को नाप सकें। उनका निर्णय स्वयं 'विवेक-सम्बन्धी-अधिकार' है जिसका प्रयोग वे निषेधाधिकार के रूप में कर सकते हैं।

भाषा और विषय के सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक है। हिन्दी में शब्दों की कमी नहीं है; समस्या है उसमें एकरूपता लाने की। हमें एक ही शब्द उस अर्थ में प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने पर उस शब्द से सभी का परिचय हो जाएगा। इस सम्बन्ध में हम लोगों ने अराजकता स्थापित कर ली है और सभी शब्द निर्माण कर रहे हैं। इससे समझ में नहीं आता कि यह शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त है और अनायास दुरूहता बढ़ जाती है। दूसरी बात यह है कि हम अंग्रेजी में विचारपूर्ण विषय पढ़ते हैं तो आवश्यकतानुसार शब्दकोश का प्रयोग अवश्य करते हैं। लेकिन हिन्दी में एक बार शब्दकोश की आवश्यकता न पड़े ऐसी भाषा चाहते हैं; जब कि मानते हैं कि हिन्दी के नये शब्दों से अभी पूरा परिचय नहीं है। इसी से मिलती जुलती बात विषय के सम्बन्ध में भी है। हिन्दी में प्रकाशित साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दीभाषी यही समझते हैं कि वे इस भाषा के प्रकाशित सभी विषय समझते हैं। इसमें अधिकारी भेद नहीं हो सकता। फलतः जिस विषय से सम्बन्ध केवल भाषा के माध्यम से हो रहा है और उस विषय का मूलतः ज्ञान नहीं है उसमें क्लिष्टता एवं उलझाव आदि तो स्पष्ट ही होगा।

और 'तुम' ! शायद ग्रन्थ की एक पंक्ति भी न समझ सको क्योंकि पढ़ना जो नहीं है। वैसे है भी यह विषय अत्यन्त रूखा। रूखेपन में दो प्रकार के कारण हैं, स्वभावतः और कालक्रम से। हमलोग वीसवीं शती के प्राणी हैं और पुस्तक की विषय-वस्तु है उस काल की जब वीसवीं शती की नीव नहीं पड़ी थी। देश, काल, पात्र एवं परिस्थितियाँ भिन्न थीं। व्यक्ति के स्तर और लक्ष्य भिन्न थे। अपराध एवं दंड की संहिता में 'प्रायश्चित्त' था। अब प्रायश्चित्त विधि की सीमा से दूर हो गया। अब सभी का वैज्ञानिक अध्ययन होता है क्योंकि व्यक्ति 'वैज्ञानिक' हो गया। मशीन में अन्तरात्मा नहीं होती। प्रायश्चित्त अन्तर्मन की शान्ति से सम्बद्ध है। इसका सम्बन्ध अपराध सूची नहीं व्यक्ति की उस अन्तर्वेदना को उभाड़ने वाले अपराध से है जो समाज एवं राज्य से दंड पाने पर भी शान्त नहीं होता। उस 'अव्यक्त-अपराध' को वीसवीं शती का आदमी 'मन की कमजोरी' मानता है। वह जो कुछ जानता है केवल न्यायालय के लिखित प्रमाण को। अतएव मेरा 'समर्पण' भी तुम्हें 'भार' ही लगे क्योंकि इसमें 'व्यावहारिक उपयोगिता' नहीं है। रूप, रुपये और प्रभुत्व की भाग दौड़ वाली 'भीड़' में कागज के पन्नों का क्या मूल्य! तुम्हें यह समर्पण भार हो सकता है किन्तु तुम्हारा प्रत्यर्पण मुझे वीसवीं शती को समझने में प्रकाशदीप-सा है इसका ही आभार समझना।

लेकिन वीसवीं शती में भी श्रद्धेय भइया श्री विशुद्धानन्द पाठक, श्रीरामशंकर भट्टाचार्य, श्री रामचन्द्र पांडेय, श्री वीरभद्र मिश्र, श्री शिवगोपाल वाजपेयी, श्री मार्कण्डेय सिंह आदि जैसे लोग भी हैं जिनसे प्रतिदिन इतना घना व्यवहार रहता है कि अपराध की सूची सामने रखकर विचार किया जाय तो मेरा ही अपराध रहेगा। लेकिन इसके उपरान्त भी दंड के स्थान पर यदि आशीर्वाद और शुभाशंसा मिलती है तो लगता है कि 'पुनर्जन्म' भी है और मैं उसी पूर्वार्जित पुण्य का लाभ उठा रहा हूँ।

पुस्तक का छपना भी संयोग ही है। साहित्य सम्मेलन में मैंने पाण्डुलिपि भेज दी। इसकी सूचना मिलने पर अनेक प्रकाशकों ने

छापने की इच्छा व्यक्त की। अन्ततः श्रद्धेय भाई रमाशंकर पाण्डेय के माध्यम से चौखम्बा ने इसे प्रकाशित करने की इच्छा व्यक्त की। इसमें मैं दोनों का आभार मानता हूँ। पुस्तक की छपाई भी छापने में एक समस्या है; विशेषतया इस भूतनाथ की नगरी में जहाँ प्रेस के '·····' अपने ढंग से काम करते हैं। फलतः अशुद्धियां होना तो सामान्य बात है। कुछ शब्द आर्डर के बाद भी आ जाते हैं। लेकिन इन सब का दायित्व मैं स्वयं अपने ऊपर लेता हूँ। कारण स्पष्ट है कि मैं पुस्तक का लेखक हूँ।

पुस्तक प्रारम्भ करने पर जो रूप इसे मैं देना चाहता था, नहीं दे पाया। इस विषय का सम्बन्ध विधि, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र एवं प्राच्य विद्या से भी है। इसमें सब का समावेश मैंने करना चाहा था। लेकिन कारण विशेष से मुझे पुस्तक शीघ्र ही प्रेस में देनी पड़ी। इसके लिए मैं अपने शुभैषियों के सामने नतमस्तक हूँ। यदि अन्य सहयोगी इस पर कार्य करना चाहें तो सामग्री इसमें मिल जायगी। इसे वे नये रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। प्रमाण के लिए अपराध की जो सूची है उससे विधिशास्त्र का विद्यार्थी यह तथ्य सामने ला सकता है कि इस परिगणन का विधीय आधार क्या था और इस सूची में ऐसे विषय क्यों आये? आज उनका परिगणन किस रूप में किया जा सकता है? इसी प्रकार अन्य विषयों के विद्यार्थी इसे अपने ढंग से रख सकते हैं। मैं स्वयं पुस्तक के दूसरे संस्करण या इसके अंग्रेजी-संस्करण में इस प्रकार का प्रयास करूँगा। यहाँ मैंने एक बात का स्पष्टीकरण करने का सर्वत्र प्रयास किया है—समाज एवं विधि का सम्बन्ध और उससे विषय पर पड़ने वाला प्रभाव। इस सम्बन्ध में शुभैषियों के जो भी सुझाव होंगे वे मेरे लिए अत्यन्त उपयोगी होंगे। आशा है इस पर विद्वत्समाज अवश्य ध्यान देगा।

वाराणसी
महाशिवरात्रि, २०२० वि० सं०

हरिहर नाथ त्रिपाठी

विषय-परिचय

सर हेनरी मेन ने अपराध संहिता के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से माना है कि प्राचीन समाजों में इसका अस्तित्व नहीं था। उस समय अपराध के स्थान पर पाप एवं च्युति (Wrongs) हो सकते हैं क्योंकि उनमें प्रतिफल की व्यवस्था थी। राज्य एवं समग्र समुदाय के विपरीत किये अपराध का उदय उत्तरवर्ती है। उस समय विधि के उल्लंघन में क्षति (Tort) की व्यवस्था थी अपराध संहिता की नहीं। रोमन समुदाय में भी अपराध प्रक्रिया की उत्पत्ति परवर्त्ती है। वे अन्त में इस निष्कर्ष पर आते हैं कि १२७ वर्ष ईसा पूर्व से पहले अपराध-विधि का उदय नहीं हो पाया था और न तो ऐसे न्यायालय या प्रक्रिया की स्थापना हो सकी थी। मेन के विचार अब प्राचीन हो चुके हैं। कई विद्वानों ने "बीसवीं शती में मेन" को लाकर उनकी पर्याप्त समालोचना की है। जहां तक भारत का सम्वन्ध है अर्थशास्त्र की उपलब्धि के पूर्व भारतीय राजनीति के सम्वन्ध में कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनका विचारणीय महत्व नहीं रहा। मेन १२७ वर्ष ई० पू० से पहले अपराध संहिता का अस्तित्व नहीं मानते जब कि कौटल्य का अर्थशास्त्र ३०० वर्ष ईसा पूर्व लिखा जा चुका था और उसके उद्धरणों से स्पष्ट है कि उसके पूर्व पाप नहीं अपराध की व्याख्या करने वाले अनेक अर्थशास्त्री एवं सम्प्रदाय हो चुके थे जिनका उल्लेख स्वयं कौटल्य ने किया है। अर्थशास्त्र में अपराध-संहिता नहीं है यह कहने का साहस स्वयं मेन भी नहीं कर सकते हैं। हमने अपराध के अध्याय में इस प्रकार के विवाद उठाने के स्थान पर अपराध के विकास पर बल दिया है। उसमें अपराध के स्वरूप, विकास एवं विभिन्न सूची का विवरण प्रस्तुत किया।

वस्तुतः भारतीय विचार समझने में विभिन्न भ्रान्तियों में मूलतः तीन आपत्तिजनक स्थितियाँ अत्यन्त बाधक होती रही हैं। पश्चिमी विद्वान् यूनान की

दृष्टि से भारत को देखते रहे। यूनान की दृष्टि का तात्पर्य दो है। पहला तो यह कि वे यूनान को विश्व सभ्यता की मातृभूमि स्वीकार कर भारत की ओर आते थे। कोई भी भारतीय विचार यूनानी विचार से पूर्ववर्त्ती नहीं हो सकता था। दूसरी बात यह है कि वे भारतीय विचारों को यूनानी विवरणों से उपलब्ध करते रहे हैं। यदि वे विचार उपलब्ध भारतीय साहित्य के मूल से भिन्न हैं तो भी उसे वे मूल की अपेक्षा अधिक महत्व देते रहे। उसका परिणाम उन भारतीय विद्वानों पर और बुरा पड़ा जो मूल न पढ़ सकने के कारण पश्चिमी विद्वानों की कृतियों से भारतीय जीवन समझने का प्रयास करते रहे। इसकी प्रतिक्रिया में एक तीसरी स्थिति यह आई कि भारतीय विद्वानों का वह वर्ग जो यहां के मूल और विदेशी साहित्य दोनों से परिचित था उसने यहां की उच्चता एवं "पश्चिम जहाँ आज पहुंचा है वहाँ भारतीय सहस्राब्दियों पूर्व पहुंच चुके थे" सिद्ध करने में मूल की विलक्षण व्याख्याएँ करने लगा। यह वर्ग सन् १९१२ से १९३० तक महत्वपूर्ण साहित्य सामने लाया। उसका प्रभाव आज भी यत्र-तत्र शेष है। इन तीनों धारणाओं से तथ्य सामने न आ सका।

मेगस्थनीज मानता है कि उसके समय के भारत में लिखित विधि थी ही नहीं। लिखित से उसका तात्पर्य अमेरिका और भारतीय संविधान के समान से कदापि नहीं रहा होगा। लेकिन इस प्रकार के आक्षेप पश्चिमियों से इस आधार पर हुए और प्राचीन भारत में 'संसदीय गणराज्य' सिद्ध करने वाले भारतीय विद्वानों ने उसका उत्तर दिया। मेगस्थनीज स्वयं आगे मानता है कि लिखने की कला के अज्ञान से लोग स्मरण से ही काम चलाते थे। उक्त आपत्ति तो स्पष्ट हो जाती है लेकिन लिखित विधान का अभाव एवं लिखने की कला का अज्ञान दो नयी आपत्तियां सामने आ जाती हैं। फलतः उसके समय में लिखित अर्थशास्त्र के उपलब्ध होने पर भी अधिकतम पश्चिमी विद्वान् मेगस्थनीज की ही बात दुहराते चले गये। मेगस्थनीज से ३०० वर्ष पूर्व पाणिनि ग्रन्थ, लिपिकार और यावनी-लिपि का उल्लेख करते हैं। अर्थशास्त्र में लेखक विभाग ही है। मेगस्थनीज भारत में ७ जातियाँ मानता है जिनमें दार्शनिकों की भी एक जाति है। उसके अनुसार कोई भी व्यक्ति हाथी और घोड़े नहीं रख सकता था। आर्यों में

भी दासप्रथा थी। स्पष्टतः अर्थशास्त्र में 'नत्वे वदासस्यार्यभावः' कहा है फिर भी मेगस्थनीज प्रमाण माना गया। अन्य यूनानी विद्वानों ने यहाँ तक माना कि भारतीयों को ऋण, संविद् (Contract) आदि का ज्ञान ही नहीं था। ऋण के सम्वन्ध में हमने पुस्तक के द्वितीय अध्याय में उसकी ऐतिहासिक व्याख्या के साथ यह भी दिखाया है कि इन आर्थिक कारणों का प्रभाव विधि को कैसे परिर्वातत करता है? संविद् की व्याख्या मैंने 'भारतीय विचार-धारा' के श्रम अध्याय में की है। इन विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि ग्रीक विद्वानों के विचार कितने विश्वसनीय हैं? इनके विचार अपराध एवं दण्ड पर भी इसी प्रकार के महत्व रखते हैं।

न्यायपालिका के सम्वन्ध में साहित्यिक प्रमाणों के अतिरिक्त उसका व्यावहारिक रूप पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इस सम्वन्ध में अर्थशास्त्र और अशोक के सम्वन्ध में उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त और व्यवहार में कितनी समानता थी। यदि कौटल्य का अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत करता है तो अशोक के शिलालेखों को व्यावहारिक अवश्य मानना पड़ेगा। अर्थशास्त्र न्याय व्यवस्था को दण्डनीति पर स्थिर करता है और अशोक नीति पर। लेकिन धौली शिलालेख से स्पष्ट है कि वह नीति और दण्डनीति में अन्तर नहीं मानता। साथ ही अर्थशास्त्र में दंडनीति का रूप प्रतारणामात्र नहीं है। इसे हमने दंड की उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य और सिद्धान्त के अध्याय में प्रस्तुत किया है। प्रोफेसर मुकर्जी ने कौटल्य के पौर-व्यावहारिक और अशोक के नगल-वियाहालिक को एक माना है। प्रोफेसर लुडर्स पौर और व्यावहारिक दोनों को अलग कर्मचारी मानते हैं। शामशास्त्री ने भी सन्निधातृ-प्रदेष्टृ-नायक पौर व्यावहारिक को विलग किया है। उनके अनुसार अशोक ने दोनों विभागों को मिला दिया। लेकिन इसमें तो मतभेद की आशंका कम है कि अर्थशास्त्र की व्यावहारिक को १२,००० पण वेतन की व्यवस्था अशोक ने भी मानी। जजों की निष्पक्षता, उन्हें कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ यदि वे अपने कार्य में भ्रष्टाचार करें तो कठिन से कठिन एवं सामान्य नागरिक से विशेष दण्ड की व्यवस्था कौटल्य की परम्परा में ही अशोक ने की। अपराध के प्रकार एवं अन्य विवरणों में

हमने यही व्यक्त किया है कि इस अंश में जाति एवं धर्म के आधार पर कोई सुविधा नहीं थी।

दंड के सम्बन्ध में अशोक की उदारवादी नीति का समर्थन करने वाले प्रोफ़ेसर लुडर्स, मुकर्जी एवं दीक्षितार मानते हैं कि अशोक के समय में मृत्युदंड नहीं था। उन्होंने अशोक के शिलालेख में उल्लिखित बन्धन, वध और पालिबोध का अनुवाद जेल (Imprisonment) देहदंड (Execution) और प्रतारणा (Torture) किया है। किन्तु इन विद्वानों का यह अनुवाद धौली शिलालेख के विपरीत है जिसमें वध-दंड का उल्लेख है। स्पष्ट है कि वैदिकों से चली आने वाली मृत्युदण्ड की व्यवस्था बौद्धों में भी चलती रही है। इसके लिए दंड के प्रकार में हमने पर्याप्त प्रमाण दिया है। इतना अवश्य है कि प्रतारणा एवं जेल के सम्बन्ध में पर्याप्त सुधार किये गये। ऐसे सुधारों का उल्लेख अशोक के दिल्ली स्तम्भलेख में है। इस प्रकार के सुधारों के विचार हमने दंड सिद्धान्त में किये हैं। मृत्युदण्ड में हमने यह विचार भी सामने रखा है कि महाभारत एवं शुक्र ने इसे समाप्त करने का विचार किया। जेलों में सुधार हुए लेकिन मृत्युदण्ड समाप्त नहीं किया जा सका।

अशोक ने बन्दियों के साथ व्यवहार करने में जो सुधार किये हैं वे नवीन नहीं हैं। अर्थशास्त्र के जेल के अध्याय में बन्दियों के स्वास्थ्य, उपासना, शिक्षा, सुधार आदि के सम्बन्ध में जो विचार पाये जाते हैं अशोक के शिलालेख उसे क्रियान्वित करते हैं। बन्दियों के साथ व्यवहार में हमने इसे स्पष्ट किया। दण्ड सिद्धान्त में भी हमने इसे प्रस्तुत किया है। कौटल्य के इस सम्बन्ध के वचन पर प्रोफ़ेसर दीक्षितार ने शामशास्त्री के अनुवाद पर आपत्ति उठायी है। कौटल्य ने बन्दियों के लिए जो आर्थिक सुविधाएँ दी हैं उनमें आर्थिक सहायता का भी उल्लेख है—"हिरण्यानुग्रहेण वा"। दीक्षितार ने इस सम्बन्ध में शामशास्त्री की धारणा, कि बन्दियों को आर्थिक सहायता दी जाती थी, पर अपनी अस्वीकृति व्यक्त की। हो सकता है अब इन वचनों को या तो प्रक्षेप मान लिया जाय या कहा जाय कि अर्थशास्त्र की रचना शुक्रनीति के समान १९ वीं शती में हुई है क्योंकि ऐसी व्यवस्था ब्रिटिश न्यायपालिका में ही पायी जाती है; उससे सम्पर्क

के बाद ही यह जानकारी भारतीयों को हुई। वस्तुतः इस अंश में भारतीयों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अपराध और दंड में इसका विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। अर्थशास्त्र की इस व्यवस्था का अशोक के दिल्ली स्तम्भ-लेख, स्तम्भलेख ५, शिलालेख ५ आदि में व्यवहार मिलता है। भ्रष्टाचार उन्मूलन के सम्बन्ध में कर्मचारियों में जजों तक निगरानी रखने की जो व्यवस्था अर्थशास्त्र में मिलती है उसका पालन अशोक के शिलालेखों में व्यापक रूप से मिलता है। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय अपराध और दंड सिद्धान्त व्यवहार में आया हुआ तथ्य है।

प्रोफेसर विनयकुमार सरकार ने प्राचीन भारतीय 'दंड' की तुलना बोदां, ग्रोशस एवं आधुनिक युग की सम्प्रभुता से की है। डॉक्टर ए० एस० अल्तेकर मानते हैं कि प्राचीन एवं आधुनिक राजनीति में राज्य और नागरिक सम्बन्धों की स्थापना का स्पष्ट रूप सामने नहीं आया। वी० पी० वर्मा की मान्यता है कि 'प्राचीन भारत में जनता के राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों की व्याख्या नहीं हो पायी थी।' इस प्रकार की धारणाएं धर्म, दंड एवं राजशक्ति के उचित विश्लेषण के अभाव में हुई हैं। सम्प्रभुता और दंड में तुलना उपयुक्त नहीं है। दोनों के आधार और शक्ति में समानता नहीं है। इसके अतिरिक्त बोदां से आधुनिक काल की सम्प्रभुता में व्यक्ति, लौकिकता आदि के जो रूप सामने आये हैं वे दंड में नहीं हैं। इसका विवेचन हमने दंड के अध्याय में किया है। दंड और राजशक्ति दोनों एक नहीं हैं। दंड राजशक्ति का विधि के आधार पर पूरक है। राजशक्ति और दंड में अभिन्न सम्बन्ध नहीं है। दंड के विधि पर आधारित होने से घोषाल ने ठीक ही माना है कि सामाजिक विधि की सम्प्रभुता में दंड की शक्ति समाविष्ट है। जब व्यक्ति एवं समाज विधि के माध्यम से राज्य से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तब व्यक्ति, समाज एवं विधि के अध्ययन के साथ राज्य शक्ति के अध्ययन करने पर अल्तेकर एवं वर्मा जी की आशंकाओं पर प्रकाश पड़ता है। इसके अध्ययन के लिए हमने विधि एवं उसके परिवर्त्तन करने वाले तत्त्व के अध्याय में किया है। इसके लिए विधि की व्याख्या, आधार, विकास आदि के साथ सामाजिक शक्तियों का अध्ययन किया गया है। इससे हम राज्य,

व्यक्ति, समाज एवं विधि के सम्वन्ध पर आते हैं। उसकी पृष्ठभूमि में दंड के अध्याय जोड़ने पर उक्त प्रश्न का स्पष्टीकरण होता है।

दंड को हम ऐकान्तिक रूप में प्रस्तुत कर उसका एकदेशीय अध्ययन करते हैं। लेकिन उस पर सामाजिक शक्तियों के प्रभाव को अभिव्यक्त करना आवश्यक है। उसके वर्गीय, दैवी एवं लोककल्याणकारी रूप में आने के ऐतिहासिक कारण रहे हैं। वैदिक समाज से स्मृतिकाल तक भारतीय समाज का क्या रूप रहा इसके अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार कर हमने प्रथम अध्याय में भारतीय समाज का स्वरूप सामने रखा है। इसका प्रारम्भ उस वैदिक समाज से होता है जिसमें नैसर्गिक विधि की सम्प्रभुता है। समाज में समानता है। व्यक्ति वर्गों में विभक्त नहीं है। लेकिन विकास के द्वितीय चरण के साथ यह आदर्श स्थिति परिवर्तित होती है। विधि के कार्यान्वयन की शक्ति आती है। उसमें दंड शक्ति का वीजारोपण होता है। समाज में वर्णों का उदय होता है। कार्यान्वयन शक्ति में पक्षपात होता है। राज्य-संस्था का विकास होने लगता है। इस स्थिति का विकास स्मृतिकाल तक आते २ इतना आगे हो जाता है कि वर्गों के परस्पर संघर्ष से मुक्ति मात्र दंड के आधार पर सम्भव हो पाती है। इस व्यापक परिवर्त्तन के साथ कोई दैवी शक्ति नहीं कार्य करती। इसके साथ समाज के संगठित होने वाले तत्त्व हैं। उन्होंने इस स्थिति का नेतृत्व किया है। इसके लिए आवश्यक है कि भारतीय समाज को समझ लिया जाय। अतएव प्रथम अध्याय में समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। उसके स्वरूप सामने आ जाने पर हम अपराध एवं दंड के विभिन्न पहलू समझ पाते हैं जो आदि से अन्त तक प्रभावित करते रहे हैं। समाज की इस समस्या का सम्वन्ध आदि से अन्त तक है। अतएव हमने इसे प्रथम अध्याय में ही प्रस्तुत किया है।

यहाँ एक मूल प्रश्न पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। बीच-बीच में अर्थशास्त्र के ऐसे वचन आते हैं जिनसे आभास होता है कि वे वचन धर्मशास्त्रों की परम्परा से भिन्न हैं। इस आधार पर अर्थशास्त्र एवं धर्मशास्त्र दो सम्प्रदाय माने जाते हैं और उनमें विरोध दिखाया जाता है। यहाँ हम दोनों की सामान्य उस पृष्ठभूमि पर ध्यान दिलाते हैं जिनसे हमें इस पुस्तक में मतभेद की उक्त स्थिति रखनी

पड़ी। कौटल्य परम्परावादी सनातनी धारणा में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन नहीं करते किन्तु राजनीतिविज्ञान एवं ऐसे अन्य लौकिक विषयों को धर्मवाद (Theology) से अलग अवश्य करते हैं। सबसे प्रमुख बात है कि वे साधु, भिक्षु, संन्यासी एवं इस प्रकार के अन्य संगठनों के विपरीत हैं। उनके समय में आश्रम-व्यवस्था के अतिरिक्त आजीवक, निर्ग्रन्थ, चार्वाक, भिक्षु, श्रमण आदि की ऐसी परम्पराएँ बढ़ रही थीं जो समाज के ढाँचे में अनुशासनहीनता प्रस्तुत कर रही थीं। कौटल्य धर्म, अर्थ, काम में वास्तविक सन्तुलन बनाना चाहते थे। इस सन्तुलन के लिए वैदिक समाज की संस्थापना आवश्यक थी। फलतः वे इस समाज के समर्थन और इस मार्ग के विपरीत अन्य उक्त असामाजिक तत्त्व समाप्त करना चाहते थे। फलतः दंड-व्यवस्था में उन्हें कठोर दंड की व्यवस्था करनी पड़ी।

कौटल्य सुख का मूल धर्म मानते हैं लेकिन उसके अनुभव का माध्यम उन्होंने अर्थ माना है। उस समय आर्थिक जगत में सामन्तवादी व्यवस्था के साथ पूंजीवादी स्थिति का सूत्रपात हो रहा था। प्रशासन में निर्दोष सेवकों की आवश्यकता थी। विभिन्न विभागों का कौटल्य ने व्यवस्थित ढंग से संगठन किया। इसमें परम्परा से चले आने वाले समाज के ढाँचे में संशोधन की अपेक्षा हुई। विभागीय संगठनों में उन्होंने उच्च वर्गीय व्यवस्था तो स्वीकार की किन्तु उसे ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं रखा। वे जिस महान् आर्यावर्त्त की स्थापना कर रहे थे उसमें सशक्त राजतन्त्र की भी आवश्यकता थी। अतएव राजा एवं राजपरिवार के विपरीत किसी प्रकार का प्रयास वे कथमपि स्वीकार नहीं कर सकते थे। इसमें वे अत्यन्त कठोर हैं। जहाँ एक समय ब्राह्मण परिवार की सुरक्षा मुख्य थी वहाँ अब राजपरिवार की सुरक्षा आवश्यक हो गई। इसके साथ राज्य का कल्याणकारी रूप सामने रखना उनकी प्रमुख विशेषता थी। इसमें उन्होंने अंकुरित होने वाले पूंजीवादी मूल को वहीं समाप्त कर दिया। इसका प्रभाव दंड-संहिता पर इस प्रकार पड़ा कि कौटल्य को कठोर दंड का विचारक माना गया जब कि वास्तविकता यह है कि वे 'यथार्हं' दंड के संस्थापक थे। उनके इस 'यथार्हं' सिद्धान्त में दंड को 'स्तर' के स्थान पर 'कार्य' से सम्बद्ध किया गया।

ब्राह्मण आदि अपराध की घटित घटना के आधार पर न्यायालय के सामने आने लगे। फलतः परम्परावादियों ने कौटल्य को 'कुटिल-मति' कहा। शूद्रों को या भारतीय समाज के किसी सदस्य को दास बनाने का कौटल्य ने घोर विरोध किया। दूसरी तरफ राज्य की कल्याणकारी स्थापना से सामन्तशाही एवं पूंजीवाद की नींव डालने वाली शक्तियों पर नियंत्रण रखने से उन्होंने कौटल्य को 'क्रोध-मूर्ति' के रूप में देखा। वस्तुतः इस रूप में कौटल्य का दंड मानवतावादी होते हुए भी अनवसर गृहत्यागियों से लेकर आर्थिक एवं सामाजिक शक्तियों के दुरुपयोग करने वालों के लिए कठोर है।

उनके समय में धर्म एवं राजनीति में सम्वन्ध स्थापित होने में संक्रमण-कालीन जैसी स्थिति थी। उक्त कारणों से उन्हें 'धर्मनिरपेक्ष' मानने का प्रयास किया जाता है। लेकिन कौटल्य का दंड-सिद्धान्त नैतिकता और लौकिक शक्ति के वीच एक कड़ी के समान है। दंड राजा का सर्वनाश कर देता है यदि उसने इसका प्रयोग अपनी इच्छा की पूर्त्ति में किया। यह जनता का नाश करता है यदि इसने धर्म अर्थात् विधि के विपरीत कार्य किया। दंड एवं राजा के सम्बन्ध में कौटल्य ने स्पष्ट कहा कि 'दुष्प्रणीत दंड' जनक्रान्ति को जन्म देता है और उसमें अरण्य निवासी परिव्राजक तक भाग लेते हैं। कौटल्य ने दंड का उभयमुखी स्वरूप सामने रखा। एक बुद्धिमान् राजा इस शक्ति से राज्य का विकास कर सकता है किन्तु मूर्ख महत्वाकांक्षी राजा इससे अपना और राज्य दोनों का नाश कर देता है।

अपराध एवं दंड का विषय व्यापक है। हमने भारतीय पृष्ठभूमि में समझने का जो प्रयास किया है उसका मुख्य सम्वन्ध सैद्धान्तिक रहा है। इसमें उन सिद्धान्तों के प्रयोग के ऐतिहासिक विवरण नहीं लिखे गये हैं। इतना मान लिया गया कि वे व्यवहार से सम्वद्ध रहे हैं। प्रारम्भ में परिचय प्रस्तुत करते हुए अर्थशास्त्र और अशोक के सम्वन्ध प्रस्तुत करते हुए एक सामान्य संकेत इस ओर किया गया है। सैद्धान्तिक विवेचन में यह प्रयास कहीं भी नहीं है कि आधुनिक मूल्यों को प्राचीन समाज में खोजा जाय और उच्चता-श्रेष्ठता का विवरण प्रस्तुत किया जाय। इतना अवश्य है कि इस विषय के सम्वन्ध में दो 'अतिवादों' के प्रति स्पष्ट

अनास्था व्यक्त की गई है। पश्चिमी विद्वान् मानते हैं कि प्राचीन भारत में इस विषय का मानवतावादी अध्ययन हो नहीं सकता। भारतीय राष्ट्रीयता के उग्र उपासक मानते हैं कि 'रामराज्य' में कुत्ते को भी न्याय मिलता था आज तो व्यक्ति को भी न्याय नहीं मिलता। इन दोनों मान्यताओं के साथ तथ्य उपलब्ध होने में यह पुस्तक अवश्य सहायता पहुंचा सकेगी।

आधुनिक युग में इस विषय पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है। लैम्ब्रासो (१८७६) एन्रिको (१८८१) और रैफले गैरॉफैलो (१८८५) के वाद इस विषय पर विचार करने के लिए अनेक सम्मेलन हुए। रोम (१८८५), पेरिस (१८८९), बुसेल्स (१८९२), जेनेवा (१८९६), अम्स्टर्डम (१९०१), टूरिन (१९०६), कोलोने (१९११), रोम (१९३८), पेरिस (१९५०) और लन्दन (१९५५) के सम्मेलन इस विषय के व्यापक अध्ययन पर वल देते रहे हैं। इनके अनुसार जो सामाजिक कल्याण एवं न्यायालयों के माध्यम से समाज में कार्य करना चाहते हैं, इस विषय का अध्ययन अवश्य करें। इसके विभिन्न संस्थान स्थापित हो रहे हैं जो इस विषय का विस्तार करना चाहते हैं। इसमें शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, विधिशास्त्र आदि विषयों की पृष्ठभूमि में इसका अध्ययन हो रहा है। जेल, पुलिस, न्यायालय आदि इसके अध्ययन के विषय वन रहे हैं। विभिन्न देशों में इस विषय के संस्थान अपने ढङ्ग से कार्य कर रहे हैं। इसमें शोध का तात्पर्य व्यवहार होता है। उसके कारणों के अध्ययन में शरीरविज्ञान से लेकर वातावरण तक पर ध्यान दिया जा रहा है। विभिन्न देशों की अपेक्षा अभी हमारे यहां इस विषय पर व्यापक रूप से कार्य करना है।

विषय-सूची

प्राचीन भारत में अपराध और दंड

अध्याय १

वैदिक समाज

आज का भारतवर्ष वही नहीं है जो शतियों पूर्व था और इसका समाज भी वही नहीं है। काल की विराट् छाया में देश की भौगोलिक स्थिति का अपेक्षा उसके सामाजिक रूप में महान् परिवर्तन हुआ। समाज में परिवर्तन-कारी शक्तियाँ इस रूप में क्रियाशील रहती हैं कि तत्काल उनका प्रभाव आंशिक रूप में ही व्यक्त होता है। लेकिन समाजशास्त्र की छाया में विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि समाज का स्वरूप क्या है ? इस प्रकार के विश्ले-षण से हम समाज के स्वरूप के साथ उसके घटकों का ऊहापोह पर्यालोचन कर इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उसका 'अथ इति' क्या है और किस रूप में संचालित होता रहा है। सभ्यता के इस विश्लेषण का सम्बन्ध समाज-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं का मूल आधार प्रस्तुत करने से है। यहाँ हम भारतीय समाज के विश्लेषण में केवल उसके एक अंश पर विचार कर रहे हैं— अपराध और दंड। इस विषय के अध्ययन से हमें ज्ञात होगा कि भारतीय समाज अपने सम्बन्धों में वैधानिक सम्बन्धों को किस रूप में अभिव्यक्त करता रहा है।

भारतीय समाज हमें जिस रूप में आज उपलब्ध होता है उसकी पृष्ठ-भूमि वैदिक समाज से प्रारम्भ होती है। इसके पूर्व यदि किसी समाज का अस्तित्व था तो वह वैदिक धारा में इस प्रकार समाविष्ट हो गया कि उसे हम वैदिक समाज में शोध के रूप में पा सकते हैं। भारतीय सभ्यता का आदिकाल ऋग्वेद की धारा से प्रारम्भ होता है। उसमें समाज के उभय पक्ष, आन्तरिक और बाह्य, का स्वरूप सामने आता है। समाज के लक्ष्य

और उसके घटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें ऋग्वेद के पूर्व के समाज की छाया है। वेद में ऋत शब्द आया है। उसके समाजशास्त्रीय अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें नैसर्गिक विधि से कुछ आगे की स्थिति है। उस समय ऋत ही विश्व एवं मानव समाज, दोनों का आधार था। ऋत के समाजीकरण होने पर उसका स्वरूप धर्म में परिवर्तित हुआ। धर्म में व्यक्ति, समाज और उनके सामाजिक संगठनों के व्यवहार, आचरण और कर्त्तव्यों का नियमन किया गया। व्यवहार में व्यवहार-विधि, सामाजिक-संगठन, संप्रभुता आदि का स्वरूप सामने आया। व्यवहार एवं आचरण के समन्वित रूप से कर्त्तव्यों की पृष्ठभूमि स्थिर होती है। इन तीन आधारों पर वैदिक समाज का स्वरूप सामने आता है जिसका संहिताबद्ध रूप है ऋग्वेद।

जैसा कि कहा गया है कि ऋग्वेद में चित्रित समाज के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उसमें अवैदिक समाजों का अस्तित्व है। दास, दस्यु, अव्रत, अपव्रत आदि विशेषण जिस समाज के लिए आये हैं वे आचरण, व्यवहार, भाषा, मान्यता आदि में वैदिकों से भिन्न हैं। वे वैदिक समाज से संघर्ष करते हुए दिखायी पड़ते हैं। शतियों के संघर्ष के बाद वे समाज वैदिकों से पराभूत होते हैं। फलतः वे उसमें समाविष्ट होने लगते हैं। उत्तर वैदिक काल तक वे वैदिक समाज में आत्मसात् हो जाते हैं।

इस प्रकार का जातीय समावेश वैदिक समाज में प्रथम बार हुआ। ऐसा समावेश उस समय हुआ जब वैदिकों ने अपने समाज को संहिताबद्ध कर लिया था। फलतः पराभूत अवैदिक समाज के लिए संहिता देने का प्रश्न आया। उन्हें स्वतन्त्र संहिता से शासित होने में राष्ट्रीय एकता और सामाजिक चैतन्य की एक निष्ठा सम्भव नहीं थी। अतएव अवैदिक समाज को वैदिक समाज के साथ ही रखना उचित था। दोनों समाजों में समन्वय हुआ किन्तु विजयी वैदिक समाज के आधार पर। इसका प्रभाव धर्म पर पड़ा। ऋत के समाजीकरण के साथ ऋत धर्म का रूप धारण कर चुका था। अवैदिक समाज को धर्म में स्थान देने से धर्म की दो शाखाएँ हुईं—सामान्य और

विशेष। ऋत का समग्र रूप सामान्यधर्म के रूप में विकसित हुआ। सामान्य धर्म में सत्य, जो ऋत के साथ ही उत्पन्न हुआ था, दया, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नैतिकता में स्थिर किये गये। विशेष धर्म में व्यक्ति के सामाजिक-धर्म सामने आये। इसमें समाज के विभिन्न व्यक्ति समूहों के विभिन्न घटक स्थिर किये गये। ऋत की सामान्य नैतिकता पर स्थिर समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया। विभिन्न वर्णों के निश्चित धर्म हुए। निश्चित विधियाँ ही विभिन्न वर्णों के लिए विशेष-धर्म हो गयीं।

विशेष धर्म के साथ समाज के घटकों का विभाजन हुआ किन्तु सामान्य धर्म के साथ उनमें परस्पर सम्बन्ध भी था। विशेषधर्म में जातीय सम्मिश्रण की धारणा स्पष्ट हो जाती है। अवैदिक समाजों के आचार भी उसमें सम्मिलित हुए। इनका समन्वित प्रभाव विधि पर पड़ा। फलस्वरूप विधि की समानता समाप्त हो गयी। विभिन्न वर्णों में जिन तत्वों का प्रभाव था विधि में उन का स्पष्टीकरण हुआ। विशेषधर्म को इस रूप में रखने का प्रयास किया गया कि सांकर्य न आने पाये। सामाजिक संप्रभुता की अभिव्यक्ति में स्तरों के साथ उनकी सुरक्षा के लिए कुछ विशेष संस्कारों की व्यवस्था की गयी। विभिन्न वर्णों के विभिन्न संस्कार हुए। संस्कारों में भी उच्चता नीचता का प्रश्न आया। इसी आधार पर ब्राह्मण से शूद्रतक के संस्कार निश्चित हुए।

संस्कार, यज्ञीय विधि, राज्याभिषेक, दैनिक कर्मकांड आदि का स्वरूप धर्म के साथ लग जाने से धर्म का रूप व्यापक हो गया। उसके साथ ही वह बोझिल भी हो गया। उसमें विषमता के साथ आडम्बर आता है। वैदिक काल की सामान्य विशेषताएँ धार्मिक संस्कारों के रूप में अनिवार्य होने लगीं। पशुवलि से लेकर शूद्रों के साथ व्यवहार तक सभी कुछ धार्मिक विधि बन गये। उनमें संशोधन का कार्य नास्तिक जैसा हो गया। फलतः बौद्ध और जैन जैसी दो क्रान्तियाँ हुईं।

बौद्ध और जैन क्रान्तियों ने समाज के विशेषधर्म पर गम्भीर प्रहार किया। सामान्यधर्म, जिसका सम्बन्ध ऋत से था, बौद्धों और जैनियों का

मूलाधार था। उनके साथ तत्कालीन स्थितियों का भी प्रभाव पड़ा। गौतम बुद्ध ऋत की वैदिक परम्परा को तत्कालीन स्थितियों के साथ जिस रूप में समन्वित करते हैं वह उनकी दृष्टि में वास्तविक 'सनातन धर्म' हो जाता है। बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव विधि-संहिता पर स्पष्ट रूप से पड़ता है। लेकिन यह प्रभाव जितना सामाजिक संगठन पर पड़ता है उतना न्यायालय, विधि एवं संहिता पर नहीं। न्यायालय उनके नियम, विधान, न्यायाधीश आदि वैदिक परम्परा पर ही विकसित होते रहे। उनमें एक ओर संशोधन हुआ तो दूसरी ओर दृढ़ता भी आयी। बौद्ध एव जैन नास्तिक माने गये और उन्हें न्यायपालिका के संगठन में कहीं स्थान नहीं दिया गया। इसका स्पष्ट रूप दंड-संहिता में दिखायी पड़ता है। यही कारण है कि नास्तिकों और नास्तिक शूद्रों के लिए असामान्य एवं कठोर दंड की व्यवस्था की गयी है। दंड के आधार और उद्देश्य के साथ यह वर्गीय धारणा अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है।

उक्त क्रान्तियों के साथ एक बार पुनः जातीय सम्मिश्रण की समस्या आती है। पश्चिमोत्तर सीमा से यवन, शक, पल्हव आदि जातियों का सम्मिश्रण होता है। वे कहीं विजयी हुए और कहीं परास्त, लेकिन किसी भी स्थिति में वे भारत में रहने की ही स्थिति में थे। उनका लौटना असम्भव था। वैदिक समाज, अवैदिक समाजों से मिश्रित, इस समस्या के प्रति जागरूक हो जाता है। उसे दो समस्याओं का सामाना करना था—सांस्कृतिक और जातीय। सांस्कृतिक पर बौद्ध एवं जैनियों का जो प्रभाव था उसके समाधान में वैदिकों ने अपने कर्मकांड एवं संस्कारमूलक धर्म में परिवर्तन किया। यह परिवर्तन इतनी दूर तक हुआ कि नवीन देवमंडल की स्थापना की गयी। वैदिक देवताओं के स्थान पर पंचदेव का नया रूप सामने आया। वैदिक देवमंडल की नैतिकता नये समाज के लिए अग्राह्य थी। यज्ञीय वलि, सोम आदि से परे विष्णु, जो वेदों में उपेन्द्र थे, प्रमुख देवता के रूप में स्वीकार किये गये। आदर्श और शील के रूप में महापुरुषों को विष्णु का ही रूप माना

जाने लगा। धर्मसूत्रों के बाद महाकाव्यों एवं पुराणों में विष्णु के साथ पंचदेवों के रूप समग्र देवमंडल पर छा जाते हैं। यही अवसर है जब उन समग्र मान्यताओं को 'कलिवर्ज्य' कहा गया जो कभी श्रुति में अनिवार्य थे। इसी पृष्ठभूमि में जातीय समस्या का भी समाधान किया गया। जातीय सम्मिश्रण में वैदिकों ने वही प्रक्रिया स्वीकार की जो कभी दासों आदि के साथ किया था। विभिन्न जातीय श्रेणियों में उन जातियों का समावेश हुआ। ऋत पर आधारित वर्णविहीन वैदिक समाज अवैदिक समाजों के सम्मिश्रण से वर्णों में विभक्त हुआ था। उनमें अत्यन्त नीच स्थिति के व्यक्ति समूहों को वर्णों में भी न रखकर 'पंचजन' में रखा गया था। इस बार का सम्मिश्रण वर्ण-हीन नहीं वर्ण सम्पन्न समाज के साथ हुआ। अतएव वर्णों में भी अवान्तर भेद हुए। ब्राह्मणों में भी देश, क्षेत्र, गोत्र, प्रवर आदि के आधार पर ऊँच एवं नीच श्रेणियाँ बनीं। यही प्रक्रिया वैश्यों, क्षत्रियों और शूद्रों में भी हुई। शूद्रों ही नहीं अन्त्यजों तक में भी ऊँच अन्त्यज और नीच अन्त्यज का विभाग मिलता है। आज भी इनका प्रभाव परस्पर वैवाहिक सम्बन्धों में दिखायी पड़ता है। इतने अंश में वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ेगी कि राष्ट्र में विभिन्न प्रखंडों में बिखरी जनसंख्या मात्र चार वर्णों में समाविष्ट हो गई। फलतः समाज के विराट् रूप में चार अंग शाश्वत होकर राष्ट्रीय निष्ठा अभिव्यक्त करते रहे। यदि इस प्रकार की बौद्धिक क्षमता का परिचय वैदिकों ने न दिया होता तो राष्ट्र में शताधिक राष्ट्रीयता का निर्माण होकर 'महान भारत' का स्वरूप सामने आ ही नहीं सकता था। प्रस्तुत विषय का प्रामाणिक अध्ययन हमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना है।

इस वैदिक समाज में आदि काल की कुछ सामान्य विशेषताओं के पूर्व वैदिक जाति पर विचार करना आवश्यक है जिसे 'आर्य' कहा जाता है। पश्चिमी समाजशास्त्री आर्य जाति की संज्ञा मानकर उसे काश्मीर से लेकर मध्य युरोप एवं मध्य एशिया से उत्तरी अफ्रीका तक बिखरी हुई मानते हैं। भारत में उनके बाह्यप्रवेश का खण्डन डॉक्टर अविनाश चन्द्र दास ने

किया ।[1] उनके अनुसार आर्यों का मूल स्थान सप्त सिन्धु था। डॉक्टर दास के पहले सभी पश्चिमी विद्वान् यही मानते थे कि आर्य भारत में बाहर से आये। मैकडानल एवं कीथ ने स्पष्टता के साथ लिखा है कि डॉक्टर दास के विचारों का समर्थन उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों एवं ऋग्वेद से नहीं होता ।[2]

नवीनतम् शोध में होरले (A. F. Rudolf Hoerule) का मत है कि आर्यों ने भारत पर दो आक्रमण किये। प्रथम आक्रमण फारस की ओर से हुआ। वे पंजाब की उपजाऊ भूमि की ओर स्त्री, बच्चे, पशु एवं काफिलों के साथ ईरान के मार्ग से आये। इस समय पंजाब में उन्होंने ऋग्वेद के कुछ अंशों की रचना की। उनके साथ उनका परिवार था अतएव जातीय भिश्रण नहीं हुआ। इस आक्रमण के बाद पंजाब से वे आगे बढ़ने लगे और उनका दूसरा परिवार इसके बाद आता है। दूसरा दल हिन्दूकुश की पहाड़ी, गिलगित, चित्राल और उत्तरी पंजाब के मार्ग से होता हुआ गंगा जमुना के मैदान में फैलने लगा। इस दल के साथ अपना परिवार नहीं था अतएव इसने स्थानीय जनसंख्या के साथ सम्मिश्रण कर लिया। इसमें शुद्ध आर्य-रक्त शेष नहीं रह सका। इसी दल का विस्तार पूर्व, उत्तर एवं दक्षिण की ओर हुआ ।[3]

होरले के मतों का समर्थन ग्रियर्सन करते हैं ।[4] लेकिन मैकडॉनल और कीथ के अनुसार इस सिद्धान्त का समर्थन वैदिक प्रमाणों पर नहीं किया जा सकता ।[5] पश्चिमी विद्वानों की धारणा से आर्य भारत में आने के समय असभ्य थे। लेकिन समाजशास्त्र की गवेषणा इसे मानने के लिए तैयार नहीं। ऋग्वेद में आर्य संस्कृति का जो रूप मिलता है वह सभ्यता की उच्च स्थिति का है। वे उस विजयी जाति के प्रतिनिधि हैं जिसने कृषि, कला-

1. A. C. Das : Rigvedic India.
2. Macdonell : History of Sanskrit Literature.
   Macdonell and Keith: Preface to Vedic Index.
3. A. F. Rudolf Hoerule: A History of India.
4. Grierson: Indian Impire.
5. E. B. Hovell : History of Aryan Rule in India, P. 4.

कौशल के साथ राष्ट्रियता का भी विकास कर लिया था।[1] इन आर्यों ने मन्दिर नहीं बनाया किन्तु प्रकृति की शक्तियों की दार्शनिक मीमांसा कर ली थी। अपने से पूर्ववर्ती सभी जातियों के मूल आधारों का समन्वय कर उन्हें अपने में आत्मसात् कर लिया।[2]

पश्चिमी विद्वानों के अनुसार भारत में आर्यों के पूर्व अन्य जातियाँ भी विद्यमान थीं। इस प्रकार वे आर्य एवं अनार्य दो जाति विभाग करते हैं। आर्यों के पूर्व आग्नेय और द्रविड़ जातियाँ थीं। द्रविड़ भी भूमध्य सागर से आए और आग्नेयों को नीचे की ओर खदेड़ दिया। आग्नेय भी भारत में बाहर से आए। निष्कर्ष यह कि मानवी सृष्टि की दृष्टि से भारत कभी जनसंख्या से शून्य था।[3] परवर्ती काल में ईरानी, यूनानी, पल्हव, शक, हूण, तुर्क आदि भारतीय समाज में प्रविष्ट हुए। डाक्टर बी. एस. गुह के अनुसार नीग्रो, आग्नेय, मंगोल, भूमध्य सागरीय और पश्चिमी लघुकपालीय पाँच जातियों का सम्मिश्रण आर्य जाति में है। त्रावनकोर-कोचीन की कडार, पाल्यन, वाइनाड की इसड, आसाम की नाग, राजमहल की कुछ जंगली जातियाँ, अण्डमान तथा मलयद्वीप की कुछ जातियाँ उनके अवशेष हैं। आग्नेय भूमध्य सागर से आए। विन्ध्याचल और आसाम की पहाड़ियों में इनके वंश हैं। तिब्बत और चीन से आने वाले मंगोलों के वंशज आसाम और पूर्वी बंगाल में इस्ततः पाये जाते हैं। कर्नाटक, तामिलनाड एवं केरल की जातियों में भूमध्य-सागरीय जाति के अवशेष हैं। लघुकपालीय जाति द्रविड़ों की है।

इस प्रकार के शोध के लिए भाषाशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलते। आर्य नामक जाति का उल्लेख ऋग्वेद से परवर्ती काल तक नहीं मिलता है। इसका प्रयोग विशेषण एवं श्रेष्ठता अर्थ में हुआ है। विश्व में

---

1. Vedic Index Vol II P. 126.
2. Ibid P. 5.
३. भारत जनगणना विवरण १९३१, डॉक्टर हटन का मत।

बिखरी जातियों में परस्पर भाषा या वर्णसाम्य से उक्त निष्कर्ष सामने आते हैं। यह तो सांस्कृतिक सम्पर्क से भी हो सकता है। भारत की जलवायु इतनी विभिन्नता पूर्ण है कि उससे विभिन्न वर्णों का अस्तित्व होना स्वाभाविक है। भूगर्भ शास्त्रियों का बहुमत इस पक्ष में हो रहा है कि भारत में सृष्टि हुई और उसका बाहर विकास हुआ।[१]

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैदिक जाति में जातीय सम्मिश्रण हुआ ही नहीं। यद्यपि आर्य एवं अनार्य विभाग विवादग्रस्त है और हम आर्य नाम की जाति मानने के लिए तैयार भी नहीं तथापि वैदिक समाज से स्वतन्त्र और विरोधी समाज एवं जाति थी, इसे मानना पड़ेगा। इसलिए हम आर्य अनार्य शब्दों के स्थान पर वैदिक एवं अवैदिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। अवैदिक तत्त्वों के विपुल प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। वर्ण शब्द आज जाति के साथ जन्मगत हो गया है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द जाति अर्थ में कहीं नहीं आता। उसका प्रयोग रंग (Colour or light) के अर्थ में हुआ है।[२] ऋग्वेद में समुदाय के लिए वर्ण शब्द आया है। जिसका रंग कृष्ण था।[3] इन्द्र द्वारा कृष्ण वर्ण के दमन के अन्य भी प्रमाण मिलते

---

१. डाक्टर पिलग्रिम, प्रागैतिहासिक भारत, पृ० ११०—१४।
भारत के भौगर्भिक पर्यवेक्षण का विवरण, वर्ष १९१५।
पी. टी. श्रीनिवास आयंगर, सुब्रह्मण्य व्याख्यान माला, वर्ष १९२६ पृ० ३।
Opening up of Africa. P. 10

२. ऋग्वेद. १।७३।७।; २।३।५।; ९।९७।१५।; ९।१०५।४।; १०।१२४।७।

३. यो दास वर्णमधरंगुहाकः। ऋ. २।१२।४।; उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष। ऋ.१।-७९।६। यहाँ 'वर्णौ' का अर्थ सायण ने काम और तप किया है। लेकिन इसका अर्थ अगस्त्य से समर्पित आर्य और दास ही उपयुक्त है। ब्राह्मण क्षत्रिय अर्थ भी ठीक नहीं; क्योंकि वर्ण से जाति अर्थ लेने में चार अतएव बहुवचन होना चाहिए।

हैं।[१] सोम का भी उल्लेख इसी प्रकार है।[२] यज्ञ करनेवाले वैदिकों की इन्द्र ने सहायता की।[३]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वर्ण शब्द जाति अर्थ में नहीं है। वैदिक समाज का विरोधी अवैदिक समाज था। कृष्ण एवं असुर वर्ण इसके लिए प्रयुक्त हुए। ब्राह्मण ग्रन्थों तक वैदिक समाज में चार वर्ण हो गए थे। परस्पर संघर्ष में ब्राह्मण को दैव्य और शूद्र को असुर वर्ण कहने में पूर्ववर्त्ती सामाजिक बीज ही कारण है।[४] ऋग्वेद की ऋचा (९।७१।२) को तैत्तिरीय ब्राह्मण के उक्त मन्त्र के साथ मिलाकर उसकी व्याख्या की जाय तो असुर्यम् वर्णम् का अर्थ शूद्र जाति हो जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि असुर शब्द जब वरुण के विशेषण में आता है तो उसका अर्थ कुछ और है। दस्युओं से वैदिकों की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना के विपुल प्रमाण हैं।[५] एक स्थान पर इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे वैदिक एवं दस्यु में भेद करें।[६]

वैदिकों एवं दस्युओं में केवल शारीरिक भिन्नता नहीं थी। उनमें विचारगत भी भेद था। वैदिकों को बर्हिष्मत और दस्युओं को अव्रत कहा गया है। दस्यु एवं दास दोनों को एक ही कहा जाता है किन्तु वास्तव में दोनों मूलतः भिन्न थे। एक ही ऋचा में दोनों का नाम आया है और भिन्न

---

१. ऋग्वेद. २।१२।४।

२. ऋग्वेद. ९।७१।२।; ९।४१।१।

३. ऋ. १।१३०।८।; ३।३४।९; ४१६।४।

४. ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्ते व्यायच्छेते।
दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणाः असुर्यः शूद्रः। तै. ब्रा. १।२।६।

५. ऋ. १।५१।; ८।१।१०३।; १।११७।२१।; २।११।२,४,१८,१९।; ३।२९।९।; ५।७०।३।; ७।५।६।; ९।८८।४।; ६।१८।३।; ६।२५।२। आदि।

६. ऋ. १।५१।८।

अर्थ के द्योतन में।[1] दोनों संगठन अवैदिक थे। वैदिकों के साथ संघर्ष में दोनों परस्पर मित्र भी हो गए।[2] फलतः वैदिकों की दृष्टि में वे समान देखे गए। दोनों का प्रयोग भी समानार्थक हो गया। इन्द्र दोनों का नाश समान रूप से करते हैं।[3] दोनों यज्ञ न करने वाले अक्रतु हैं।[4] ऋग्वेद की एक ऋचा में दस्यु के विशेषणों से उनकी संस्कृति एवं वैदिक समाज के साथ उनके सम्बन्ध पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।[5] वे अक्रतु, मृध्रवाच्, अश्रद्ध, पणि, अयज्ञ आदि कहे गए हैं। अन्यत्र भी दासों को पणि कहा गया है।[6] अवैदिक संगठनों में शम्बर भी आते हैं, उन्हें भी दास और दस्यु कहा गया है।[7]

यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिकों में ही परस्पर संघर्ष करने वाले एवं वैदिक मर्यादा के उल्लङ्घन करने वालों को दस्यु एवं दास कहा गया है। वर्ण शब्द का प्रयोग रंग अर्थ में किया गया है। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि दास और दस्यु वैदिकों से वर्ण में भी भिन्न थे। इससे उनके सम्प्रदाय नहीं समुदाय की भिन्नता स्पष्ट होती है। इस प्रकार के स्पष्टीकरण के लिए अन्य प्रमाणों पर ध्यान देना आवश्यक होगा जिनसे वैदिक संस्कृति की रूपरेखा ही सामने आ जाती है। उनके धर्म, भाषा, संगठन, उपासना आदि के सम्बन्ध में वैदिकों का दृष्टिकोण क्या था, इसे भी सामने प्रस्तुत करना चाहिए।

---

१. अकर्मा दस्युरभिनो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधदासस्य दम्भयः। ऋ. १०।२२।८।

२. ऋ. १०।२२।८।

३. ऋ. १०।९९।६,५।

४. न्यक्रतून् मृध्रवाचः पणीरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्र प्र तान्दस्यूँ रग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून। ऋ. ७।६।३।
यास्क मृध्रवाच् का अर्थ मृदुवाच् करते हैं। लेकिन उनका अर्थ दस्युओं का विशेषण होने से चिन्त्य है।

५. ऋ. ५।३४।६—७

६. ऋ. ३।३१।४।;६।२६।५।

७. ऋ. ३।३१।४।;६।२६।५।

दास और दस्यु ऋग्वेद में अवैदिक रूप में आते हैं।[१] इन्द्र दासों पर विजय एवं ध्वंस करते हुए दिखाए जाते हैं।[२] दासों से रक्षा के लिए इन्द्र से प्रार्थना की जाती है।[३] दस्युओं के उन्मूलन से आर्यवर्ण की रक्षा हो सकती थी।[४] इस प्रकार दस्युओं के साथ संघर्ष के अनेक प्रमाण मिलते हैं। उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहा।[५] वे सम्पत्तिहीन नहीं थे। उनकी सम्पत्ति छीनकर जनता में वितरित कर दिया जाता।[६] उत्तरवर्तीकाल में अवैधानिक कार्य करने वाले दस्यु कहे जाने लगे और उनका डाकुओं के अर्थ में अधिक प्रयोग किया गया। ऋग्वेद में 'धनिनः' को दस्यु कहा गया किन्तु वे यज्ञ नहीं करते थे।[७] अतएव उनके साथ संघर्ष, वैचारिक और जातिगत, था। धनशाली दस्युओं का उल्लेख[८] किया गया है कि उनका धन लेकर इन्द्र अपने समाज में वितरित कर दें।[९]

ऋग्वेद में दस्युओं के लिए अक्रतून्, अयज्ञान् विशेषण आए हैं।[१०] इन विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है कि वे वैदिक परम्परा से भिन्न एवं विद्रोही थे।

---

१. मूर के अनुसार उन्हें अनार्य सिद्ध करने के कोई भी प्रमाण नहीं हैं Some Original Sanskrint Texts, II 387.

२. ऋ. २।१२।४; यथा वशं नयेति दासमरयः। ऋ. ४।३४।६। दासा वेशाय चावह। ऋ. २।१३।८। इस पर सायण भी द्रष्टव्य।

३. ऋ. २।११।४; १०।१४८।२।

४. हत्वी दास्यून् प्रार्यम् वर्णमावत्। ऋ. ३।३४।९।अथर्व २०।११।९;२०।२०।४। ऋ. १।१०३।३।

५. ऋ. ४।३०।१३; ५।४०।४; १०।६९।६।

६. अस्मभ्यमस्य वेदनम् दद्धि सूरश्चिदोहेत्। ऋ. १।१७६।४।

७. ऋ. १।३३।४; ९।३३।७–८।

८. आहं दासा वृषभो वस्नयान्तो दान्नजे वर्चिनम् शाम्वरम् च। ऋ. ६।४७।२१।

९. वयं ताद् अस्य सम्भृतम् वासु इन्द्रेण विभाजमेहि। ऋ.० ८।४०।६।

१०. ऋ. ७।६।३।

अन्यत्र उन्हें 'अयज्वानः' और 'अनीन्द्र' कहा गया है।[१] अथर्ववेद में ये यज्ञविध्वंसक भी हो जाते हैं और उनको अमानवीय लोक से सम्बद्ध करते हुए मायावी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।[२] ऋग्वेद में आने वाले संघर्ष से इस प्रकार की नीति में परिवर्तन करना स्वाभविक ही है। वेदों में व्रत का अर्थ विधि के अर्थ में किया गया है।[3] अतएव वैदिक व्रत (विधि) से परे स्वयं अपने व्रत के पालन करनेवाले दस्युओं को 'अव्रत' के साथ 'अपव्रत' भी कहा गया है।[४] दो स्थानों पर अव्रत विशेषण का भी प्रयोग हुआ है।[५] ध्यान देने की बात है कि ऐसे विशेषण दासों के लिए नहीं आते।

अपव्रत का तात्पर्य कृष्णता से लगाया गया है। दस्यु भी कृष्णवर्ण के थे—**असिक्नीविशः**। कृष्णवर्ण के दस्युओं के हनन करने में सोम अग्रणी हैं।[६] वही ब्राह्मणों के राजा भी माने गए। कृष्ण वर्ण वालों को राक्षस भी कहा गया है। इन्द्र ने ५०,००० राक्षसों का वध किया।[७] असुरों को भी कृष्ण वर्ण कहा गया है।[८] वर्ण के अतिरिक्त भाषा भी वैदिक एवं अवैदिक समाज में भिन्न थी। ऋग्वेद में अमृध्रवाच् ६ स्थानों पर आया है।[९] उससे ज्ञात होता है कि वैदिकों एवं दस्युओं में भाषागत अन्तर है। दो स्थानों पर दस्युओं की भाषा का संकेत मिलता है।[१०] ग्लेण्डर इसे 'अशुद्ध उच्चारण'

---

१. ऋ. १।३३।४।; १।१३३।१।; ५।२।३।; ७।१८।१३।; १०।२७।६।; १०।२८।७।
२. ऋ. ४।१६।९; अथर्व, २।१४।५।; १०।६।२०।; १२।१।३७। ऋ. १०।२२।८।
३. पी. वी. काणे: ज. वि. वि. आर. ए. एस. २९।१२।
४. ऋ. ८।७०।११।; १०।२२।८।
५. ऋ. ५।४२।९।; ५।४०।६।
६. ऋ. ९।४१।१–२।
७. ऋ. ४।१६।३। इस पर सायण भी द्रष्टव्य।
८. ऋ. १।१३०।८।
९. ऋ. १।१७४।२।; ५।२९।१०।; ५।३२।८।; ७।६।३।; ७।१८।१३।
१०. ऋ. ५।२९।१०।; ७।६।३।

मानते हैं। इससे यह कहना कठिन होता है कि उनकी स्वतन्त्र भाषा भी थी; किन्तु इतना तो स्पष्ट होता है कि उनकी भाषा स्पष्ट नहीं थी। जहाँ तक शत्रुता का प्रश्न है ऐसे अनेक स्थल आते हैं जब वैदिकों में भी पारस्परिक संघर्ष थे।[1] इन्द्र एवं वरुण ने सुदास की रक्षा केवल दासों से ही नहीं की अपितु वैदिक शत्रुओं से भी की।[2] वैदिक गणों के पारस्परिक भी ऐसे युद्ध हुए हैं जिनमें दस्युओं ने पक्षविशेष ग्रहण कर सहायक रूप में युद्ध किया।[3] इनमें कुछ युद्ध इसलिए हुए थे जिनमें वैदिक विधि के पालन का भी प्रश्न था। वैदिक समाज के कुछ सदस्यों ने भी वैदिक मर्यादा का उल्लंघन किया। अथर्वन् एवं वरुण संवाद इस पर प्रकाश डालता है। अथर्वन् ने घोषणा की कि उनसे स्थापित विधि का उल्लंघन कोई भी दस्यु और आर्य नहीं कर सकता।[4]

मूर इसमें विश्वास नहीं करते कि वैदिक समाज के अतिरिक्त अन्य समाजों का भी अस्तित्व था जिनके साथ वैदिकों का संघर्ष एवं सम्मिश्रण हुआ।[5] वे ऋग्वेद में ५८ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि वैदिक समाज में आचार के प्रश्न पर स्वयं पारस्परिक संघर्ष चल रहा था।[6] वैदिक परम्परा एवं विधियों में अविश्वास करने वाले को अराधसम्,[7] अप्रणतम्[8] एवं अप्रणतः[9] कहा गया है। एक स्थान पर स्वयं इन्द्र "एधमान-

---

१. ऋ. ६।६०।६; ६।३३।३; १०।१०२।३; ६।३३।३; ६।६०।६; ७।८३।३; ८।२४।७; १०।३८।३; १०।६९।६; १०।८३।१। आदि।

२. ऋ. ७।३३।२; ५।७।८३; ८।७।१८।

३. न मे दासो नार्यो महित्वा व्रताम् मीमाय यादहां धरिष्ये। अथर्व. ५।११।३।

४. पैप्लाद. ८।१।३।

५. ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट २, ३८७।

६. ज. रा. ए. सो. ११, २८६–२९४।

७. ऋ. १।१२५।७।

८. ऋ. १।१२५।७।

९. ऋ. ६।४४।११।

द्वित्' कहे गये हैं–अर्थात् उन वैदिकों के शत्रु जो इन्द्र को हवि नहीं देते थे[१], समाज के वे सदस्य जो अपनी सम्पत्ति समाज के सदस्यों में गोप्य रखते थे इन्द्र द्वारा आक्रान्त होते हैं।[२] पणि का ऐसा वर्ग था जिसे समाज विरोधी कहा गया है।[३] मूर ने इन्हें कृपण कहा है।[४] मैक्डॉनल एवं कीथ भी पणि उस व्यक्ति को मानते हैं जो सम्पत्तिवान् होते हुए भी यज्ञ एवं अन्य सामाजिक कार्यों में धन दान न दे।[५] एक स्थान पर उन्हें वेकनाट्स (सूदखोर) एवं इन्द्र से आक्रान्त कहा गया है।[६] इससे ज्ञात होता है कि वे वैदिक समाज के सदस्य थे।[७]

यह उस काल की स्थिति है जिसमें वैदिक एवं अवैदिक समाजों में संघर्ष के साथ परस्पर सम्बन्ध की दिशा भी निर्धारित होने लगी। दस्युओं का प्रभाव वैदिकों पर भी पड़ने लगा। उनके समाज में भी दस्युओं के समान ही कुछ ऐसे सदस्य होने लगे जो वैदिक यज्ञ, व्रत एवं सामाजिक विधियों में अविश्वास करने लगे। सामाजिक नियमों की अवहेलना और वैदिक व्रत में अविश्वास करने वाले एवं वैदिकों, दोनों में संघर्ष हुआ। यह उनके लिए संक्रमण काल था लेकिन वैदिकों ने दोनों पर विजय प्राप्त की। इस विजय में उन्हें कुछ संशोधन भी करना पड़ा। इस संशोधन का परिणाम हुआ अवैदिक संस्कृति का वैदिक संस्कृति में लोप। अव सभी के सम्मिश्रण के साथ सशक्त वैदिक समाज आगे बढ़ता है। लेकिन यह सम्मिश्रण 'दीने-इलाही' का

१. ऋ. ६।४७।१६। ज. रा. ए. सो. ११, २८२–२९४।

२. सामज्या पर्वत्या वासूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगेथ। ऋ. १०।६९।१।

३. ऋ. १।१२४।१०; १।१८२।३; ४।२५।७; ४।५१।३; ५।३४।७; ६।१३।३;

४. ज. रा. ए. सो. २,२८६ = २९४।

५. वैदिक इण्डेक्स।

६. ऋ. ८।६६।१०।

७. ऋ. ८।१।४७२।

नहीं था। इसमें वैदिक विचार में विस्तार कर उसे ही आगे बढ़ाया गया। उसका रूप विकृत नहीं दृढ़ ही हुआ।

दासों एवं दस्युओं की समस्या के समान ही आन्ध्र, शबर और पुलिन्द जैसी जातियों का भी प्रश्न आया।[1] यह समस्या रामायण, महाभारत एवं पुराणों[2] तक चलती रही। इसी प्रकार शक, हूण, खस, दरद, यवन आदि जातियों का भी प्रश्न था। इन समग्र जातियों के साथ वैदिकों ने वही व्यवहार किया जो दस्युओं आदि के साथ किया था। फलतः वैदिक मर्यादा में विकास के साथ उक्त जातियों का लोप हो गया और वे वैदिक समाज के अङ्ग बन गए। उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। उनकी मर्यादा वैदिकों की परम्परा में अपना स्थान बना चली और उसमें समा गयी।

इन समग्र समाजों का अन्तर्भाव वैदिक समाज में हुआ। यह क्रम ९ वीं शती तक व्यापक रूप से चलता रहा। लेकिन इसके बाद स्थिति बदल गयी। क्यों और कैसे बदली इस पर विचार न कर केवल इतना ही कहना है कि आज तक अवशिष्ट एवं विकसित वैदिक समाज में वे ही तत्त्व नहीं हैं, जो ऋग्वेद से प्रारम्भ हुए थे। विभिन्न तत्त्वों का समावेश हुआ। सामाजिक संगठन, उपासना, आचार, विधि, व्यवहार सभी में इन तत्त्वों के प्रभाव मिलते हैं। लेकिन इनकी प्रतिष्ठा वैदिक आधार पर हुई। अतएव संस्कृति की सामासिकता के स्थान पर सामाजिक विकास मानना उपयुक्त होगा। मध्ययुग तक ऐसी स्थिति आयी कि वैदिक समाज को मूलधारा की सुरक्षा अनिवार्य हो गयी। फलतः अधिकार की सीमा का दुर्ग खड़ाकर वैदिक समाज के विकास की रक्षा की गयी। लेकिन इस दुर्ग ने अन्य समाजों से वैदिकों को अलग भी कर दिया। फलतः वैदिक समाज निश्चित सीमा,

---

१. ऐ. ब्रा. ७।१८।

२. रामा २।५०।३२।; २।४८।४।;७।२२।६।; ७।३।३।;।४४१।१२। महाभा. १२।२०७।४३। वायु. पु. ४५।१२६। मत्स्य पु. ११४।४६।

जाति, देश एवं संहिता में बद्ध हो गया। इसमें उसकी परिधि सिकुड़ती गयी और वह जीवन के व्यावहारिक अंशों से दूर होकर आज केवल संग्रहालय का इंट बन गया है।

भारतीय समाज का जो रूप सामने आता है उससे स्पष्ट है कि उसका प्रभाव अपराध और दंड पर भी पड़ता है। एक ही अपराध के लिए विभिन्न व्यक्तियों को उनके सामाजिक स्तर के अनुसार विभिन्न प्रकार के विषमतामूलक दंड का यही आधार रहा है। यही कारण है कि विधि की समानता तो भारत की न्यायपालिका में नहीं मिल पाती किन्तु न्यायालय में समानता पायी जाती है। लेकिन इस समानता से भारतीय समाज की वर्गीयता नहीं समाप्त होती अपितु उस वर्गीयता को बल ही मिलता है। उस न्यायालय में जिसके न्यायाधीश से लेकर सभी कर्मचारी इसी वर्गीय आधार पर संगठित थे, सभी को न्याय पाना अनिवार्य था। इसकी सीमा से परे कोई नहीं था। भारतीय समाज के इस अंश के अध्ययन के लिए हम दंड-संहिता का रूप सामने ले आ रहे हैं जो इस तथ्य का पूरक है। इसके साथ ही हम विधि एवं सामाजिक संगठनों में परिवर्तन करनेवाले उस अंश को भी सामने ले आना चाहते हैं जिससे सामाजिक शक्तियों में परिवर्तन हुआ है। इसीलिए अगले अध्याय में विधि के विभिन्न अंगों के साथ उनमें परिवर्तन करनेवाले तत्त्वों पर ध्यान दिलाना चाहते हैं।

★

अध्याय २

विधि और उसके परिवर्तनकारी तत्त्व

भारतीय समाज के स्वरूप प्रस्तुत करने के बाद हम उसके विधि के कुछ आवश्यक अंशों को इस दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं कि उससे भारतीय विधि संहिता की गतिशीलता का दर्शन हो जो दंडसंहिता को सदा प्रभावित करती रही है। इसके लिए हमने स्वतन्त्रता, समानता आदि पहलुओं को सामने रखने के बाद उन तत्त्वों को समक्ष रखने का प्रयास किया है जो विधि में परिवर्तन करते रहे हैं। इसमें धर्म के साथ अर्थ की शक्ति सामने रखा है जिसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योग दान विधि के परिवर्तन में रहा है।

स्वतन्त्रता

विधि शास्त्र का यह अत्यन्त विवादास्पद विषय रहा है कि विधि स्वतन्त्रता का हनन करती है या संरक्षण ? इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न भी सामने आता है कि विधि का प्रथम सम्बन्ध अधिकार से होता है या कर्तव्य से ? इन प्रश्नों के विश्लेषण में व्यक्ति और समाज के अधिकार का विश्लेषण सामने आ जाता है। एलेन के अनुसार वैधानिक अधिकार व्यक्ति की स्वतन्त्रता के क्षेत्र को व्यापक बनाते हैं। वैधानिक कर्तव्य स्वयं की सन्तुष्टि के स्थान पर दूसरे के हित के माध्यम से प्रतिबन्धों की स्थापना करते हैं।[1] समाज के सहयोगी के रूप में भी व्यक्ति के अस्तित्व का ध्यान आवश्यक होता है। अपने अस्तित्व, सुरक्षा और क्षमता के विकास के साथ ही वह

---

1. Prof Allen : Legal Duties P. 156.

समाज के लिए पूरक बन जाता है। अतिव्यक्तिवाद और अतिसमाजवाद के समन्वय बिन्दु पर ही समाज तथा व्यक्ति के स्वत्वों का सन्तुलन होता है।

व्यक्ति की कार्य की स्वतत्रता (Freedom of Action) के प्रश्न के साथ उसकी नैतिक त्त्मता और महत्वाकांक्षा का ज्ञान भी आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति समाज के हित और स्वयं अपने विकास के साथ अपने अभीष्ट का समन्वय किस प्रकार कर रहा है यह प्रश्न भी ध्यन में रखना आवश्यक है। इसका सम्वन्ध सकारात्मक और नकारात्मक दोनों से है। यदि वह अपने अभीष्ट की पूर्ति में सकारात्मक पक्ष स्वीकार करता है तो समाज के साथ उसका सहअस्तित्व सम्भव नहीं और उसकी स्वतन्त्रता प्रतिबद्ध होगी। भारतीय समाजशास्त्रियों ने मनुष्य में बुराई के तत्त्व स्वीकार किया किन्तु असामाजिक एवं समाजविरोधी तत्त्वों को प्रश्रय नहीं दिया। वातावरण और प्रशिक्षण के माध्यम से व्यक्ति के गुणों के विकास पर ध्यान दिया गया। ऐसा प्रयास समाज से परे नहीं अपितु उससे अन्यतम रूप में सम्बद्ध है। भारतीयों की दृष्टि में 'मुझे यथेष्ट व्यवहार की स्वतन्त्रता है' निरपेक्ष नहीं बल्कि विधिनिषेधपरक सिद्धान्त है; क्यों कि व्यक्ति का अभीष्ट सापेत्त नहीं है। प्रेय के साथ ही उसका श्रेय, जिसका सम्बन्ध अलौकिक है, भी प्रतिवद्ध और सीमा के आवरण में है। उसमें भी अधिकार और अधिकारी का क्रम लगा रहता है।

डाक्टर डु नाव (Du Nouy) के अनुसार "व्यक्ति की स्वतन्त्रता इस बात की अपेक्षा करती है कि वह पाशविक भावाभिभूत शारीरिक इच्छा की पूर्ति चाहता है या सामाजिक हित के साथ उच्चादर्शों की ओर उन्मुख है।[1]" भारतीय समाजशास्त्री व्यक्ति में दैवी और पाशविक दो वृत्तियों का अस्तित्व मानकर उसकी स्वतन्त्रता का विचार करते हैं। व्यक्ति की स्वतन्त्रता इन दो वृत्तियों की पृष्ठभूमि में ही स्थिर की जाती है। मनुष्य वृत्तियों में—वातावरण और प्रशिक्षण के माध्यम से—परिवर्तन कर सकता

1. Prof Dr.Du Nouy : Human Destiny P. 48

है। उसी प्रकार उसकी स्वतन्त्रता की परिधि में भी परिवर्तन होने लगता है। भारतीयों के अनुसार 'असीमित कर्त्तव्यता' को न मानते हुए भी कर्त्तव्यों की ओर व्यक्ति को अधिक उन्मुख किया है। कदाचित् ही अधिकार शब्द का प्रयोग मिलता है। वस्तुगत आवश्यकताएँ समाज के परिवेश में ही सन्तुष्ट होती हैं और समाज ही उनका उद्गम है। कर्त्तव्य पालन के लिए प्रस्तुत व्यक्ति के भाव मूलतः सामाजिक विचार की प्रतिध्वनि हैं जिसे वह सदाचार, नैतिकता और सामाजिक घटकों की धारणाओं से प्राप्त करता है और वे अन्ततः स्वतन्त्र हो जाते हैं।

प्रकृति के वाह्य सम्बन्धों से स्वतन्त्र रूप में व्यक्ति बढ़ता और उन पर स्वामित्व प्राप्त करता है। साथ ही सामाजिक सहअस्तित्व में अन्य व्यक्तित्वों में वह अपना स्थान इस रूप में निर्धारण करता है कि उनके हितों के साथ विरोध न उत्पन्न हो। इस स्थान पर कर्त्तव्य 'निरंकुशता' से लादा नहीं जाता। जिस वाह्य वातावरण में व्यक्ति अपना विकास कर रहा है उसमें उसके व्यवहार की आदर्श प्रवृत्तियाँ अपना स्वतन्त्र रूप बनाए रखती हैं। इस स्थिति में कर्त्तव्य अपने भविष्य की पूर्णता में स्वयं विधान बन जाता है और इसे स्वीकार करने वाला आत्मिक स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा उपलब्ध कर सकता है। भारतीय विचारकों ने वाह्य वातावरण के प्रभाव से विकसित होने वाली प्रवृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार किया है। वे ऐसी किसी स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं करते जो सभी प्रवृत्तियों से स्वतन्त्र हो। उनके अनुसार मनुष्य में एक ऐसी शाश्वत प्रवृत्ति है जो मानवीय निर्णय का आधार बन जाती है। मानवीय स्वतन्त्रता का तात्पर्य क्षुद्र वाह्य प्रवृत्तियों एवं स्वार्थपूर्ण भौतिक प्रवृत्तियों से स्वतन्त्रता नहीं है; क्योंकि ये प्रवृत्तियाँ नैतिकता को न तो व्यक्त होने देती हैं और न बौद्धिक शक्ति का तात्त्विक निर्देशन करती हैं।

इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उद्देश्य क्षमता एवं योग्यता को पतन की ओर उन्मुख नहीं करता अपितु उसे ऊपर उठाता है। पाप (Evil)

सदा वाह्य दवाव, शारीरीक दासता, आवश्यकता का अतिरेक और अनुराग (Pasion) का परिणाम है जब कि पुण्य (Good) सत्य और उचित व्यवहारों का मुक्त स्वरूप है। भारतीय पुण्य का समर्थन करते हैं। फलतः वे मनुष्य के स्वभाव को मूलतः पवित्र और सामाजिक अवश्य मानेंगे। 'सत्य और उचित व्यवहारों से युक्त कर्त्तव्य' के गर्भ में दूसरे तथा स्वयं का अधिकार भी सन्निविष्ट है। इस परम्परा में अधिकार की स्थापना न करके यदि इस रूप में अधिकार की व्याख्या करते हैं "यह करने या न करने का मेरा अधिकार है" तो निश्चय ही दूसरे के हित की उपेक्षा का प्रश्न आ जायगा। अभीष्ट (Interest) की ऊपर जो व्याख्या की गयी उससे 'नियन्त्रित अभीष्ट' या 'अन्य द्वारा इच्छित से विमुक्त अभीष्ट' का जो रूप सामने आता है उसे हम समाज विरोधी या असामाजिक नहीं कह सकते।

शुभ (Good), वैध और उचित के लिए प्रयत्न वहीं सम्भव हो सकता है जहाँ प्राकृतिक शक्ति के प्रति अन्धभाव के स्थान पर उचित एवं आवश्यक-ग्रहण की वृत्ति होगी। यह सत्य है कि उच्चतम् उपयोगिता उसी समाज में उपलब्ध हो सकती है जिसमें व्यक्ति शुद्ध और सहकार भावना से क्रियाशील हो, व्यक्ति विधिनिषेध की परिधि स्वीकार करता हो और सामाजिक संगठन पूर्ण रूप से उचित हो। सहअस्तित्व और सामाजिक स्वतन्त्रता के परिवेश में ही वैधानिक क्षमताओं का विकास होता है। इस स्थिति के परिणाम से भारतीय अपरिचित नहीं थे।

'आनन्दवादी' दार्शनिक बुद्धि को आनन्द का दर्शन मानते रहे हैं। उनके अनुसार बुद्धि आनन्द-प्राप्ति की शिक्षा देती है। आनन्द का तात्पर्य उसमें समग्र रूप से है, न कि उसमें क्षणिक सन्तुष्टि से। महीदास के अनुसार प्रकृति सोद्देश्य है और जीवन का लक्ष्य पूर्णता में है। पूर्णता का आधार 'प्रज्ञा' (Knowledge), नन्दनम् (Bliss) और अमृतत्वम् (Immortaltiy) है। विकास का क्रम प्राण (Life) से प्रज्ञा (Reason)

की ओर—'प्रजापति से ब्रह्मा' अर्थात् बन्धन से मुक्ति की ओर होता है। स्वतन्त्रता का प्रथम लक्षण है कि व्यक्ति शारीरिक दबाव से कितना ऊपर उठा। दूसरा लक्षण यह है कि वह संयोग-भावना (मिथुनम्) से कितना अपने को नियन्त्रित कर सका। तृतीय लक्षण क्षुधावृत्ति में ग्राह्य वस्तुओं के चुनाव और उनके परिपाक में है। इसी प्रकार विभिन्न लक्षणों में अन्तिम लक्षण यह है कि व्यक्ति अपनी प्रतिभा और हृदय का प्रयोग किस रूप में कर रहा है? मानव-शक्ति का अन्तिम मापदण्ड उसकी बौद्धिक शक्ति है। उसका अन्तिम लक्ष्य प्रज्ञा से अमृतत्व की प्राप्ति अर्थात् भौतिक साधनों से शाश्वत आनन्द की प्राप्ति है। महीदास का दर्शन इस व्याख्या में इस निष्कर्ष पर आता है कि मानव स्वतन्त्रता समग्र भौतिक तथा ऐन्द्रिक सुख साधनों से ऊपर उठने से उपलब्ध होती है।

महीदास के दर्शन का यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य अर्थ और काम की 'वैध भुक्ति' से परे हो जाय। ऐन्द्रिक सुखों का आधार ऐकान्तिक न होकर प्रकृति के उद्देश्य से समन्वित होना चाहिए जिनका सम्बन्ध जीवन की प्रतिष्ठा और आदर्श से है। उनके अनुसार मस्तिष्क ही वह स्थान है जहाँ धारणाएँ अपना स्थान बनाती हैं। इन्द्रियों (Sense) और बुद्धि (Intellect) दो शक्तियों से विचार अपने निर्माण का साधन संगृहीत करता है। इन्द्रियों का कार्यक्षेत्र मनुष्य और बुद्धि का समग्र प्रकृति है। इन्द्रियाँ बुद्धि के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हैं जो विचार की जनक होती हैं। विचार मानवीय मस्तिष्क की उत्पत्ति नहीं अपितु बुद्धि अपनी संग्राहक-शक्ति (Obstructive power) से इकाई के मध्यम से शाश्वत का साक्षात्कार करती है। विचार प्रस्तुत करने की क्षमता मनुष्य में ही है। "मनुष्य जो जानता है वह कहता है। जो घटित होता है वह उसे जानता है। वह स्वर्ग नरक जानता है। वह भौतिक के माध्यम से अमृत का दर्शन करता है।" भूख और प्यास, प्रवृत्ति और भावना क्षुद्र पशु का ही निर्देशन करती हैं। तर्क, बुद्धि, चिन्तन और कर्त्तव्य-निर्धारण की क्षमता उच्च जीवन

में ही सम्भव हैं। निम्न और उच्च में भेद करने की क्षमता मनुष्य में ही उपलब्ध है। वह अपने हितों और अभीष्टों को समाज और प्रकृति के साथ समन्वित करके आगे बढ़ता है।

महीदास के जीवन दर्शन के साथ ही उनके विधि दर्शन (Philosophy of Law) का भी विकास समझना पड़ेगा। उनके अनुसार विधि-निषेध के कार्यान्वयन के लिए राज्य आवश्यक है। व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं को अन्य के साथ पूरक बनाने की स्वीकृति में ही राज्य की स्थिति उच्च बन पाती है।

वृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने आत्म-काम—जिसका अनुकरण या विचार ईसा ने सहस्रों वर्ष बाद आत्मप्रेम (Self love) के रूप में किया—का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके अनुसार "प्रिय का आधार बाह्यापेक्ष नहीं अन्तरापेक्ष है। सर्व के लिए सर्वप्रिय नहीं है अपितु अपने लिए सभी प्रिय होता है।[1]" आत्मकाम का अनुभव हो जाने पर तत्काल दूसरे के काम का अनुभव होने लगता है। व्यक्ति इसीलिए ऐसा कुछ भी नहीं करता जो अपने को अप्रिय हो।[2] काम का मूल संकल्प है। उच्च संकल्प से उच्च काम की प्रतिष्ठा, जो सामाजिक है, होती है। अतएव उच्च संकल्प से कार्यरत होना आवश्यक होता है।[3] मानव व्यापार का निश्चय उद्देश्य से होता है। स्वार्थ के लिए उद्देश्य निश्चित करना महान् लक्ष्य का पूरक नहीं है। लेकिन यह प्रवृत्ति मनुष्य में जन्मजात होती है। अतएव उसकी इस प्रवृत्ति का भी समन्वय उच्चादर्शों के साथ करना पड़ता है। कठोपनिषद् के अनुसार श्रेय (Good) और प्रेय (Pleasurable) भिन्न होते हैं। उनके अनुसार "मनुष्य के व्यवहार भिन्न होते हैं। इनमें श्रेय को ग्रहण करनेवाला

---

१. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। वृ. आ. उ. २।४।५।
२. अतो यदात्मनोऽपथ्यम् परस्य न तदाचरेत्। याज्ञ. संहिता ३।६५।
३. मनु. २।२-५।

साधु और प्रेय का वरण करने वाला लक्ष्य से च्युत होता है।"[१] भारतीय विधि का आधार श्रेय और प्रेय के भेद पर आधारित है।

मनुष्य अनुभव से ही अपने विचार की स्वतन्त्रता की सीमा में भेद कर पाता है और शनैः शनैः उनके साथ अपने को समन्वित करता है। प्रारम्भ में यह कार्य सीमित क्षेत्र में होता है। प्रायः उस समय उसके अभीष्ट की ही प्रधानता रहती है। उस समय वह यह प्रयास करता है कि उसके अभीष्ट समाज के महान् लक्ष्यों के साथ उपयुक्त सम्बन्ध बना पाएँ। मनुष्य में शारीरिक निर्बाध आकांक्षाओं की अपेक्षा उसकी आन्तरिक और सामाजिक शक्ति बलवती होती है। वह दूरन्देशी और परिणामचिन्तक होता है। शारीरिक दण्ड की अपेक्षा उस पर सामाजिक एवं नैतिक शक्तियों का प्रभाव अधिक क्रियाशील होता है। उसमें स्वार्थ की भावना बाह्य उपकरणों के प्रभाव की प्रतिक्रिया है। वे उसमें मूलतः नहीं हैं।

श्रेय (Good) और प्रेय (Pleasure) के अनेक भेद होते हैं। उनमें भारतीय विचारकों ने विधि का लक्ष्य श्रेय को माना है। अपने युग की समस्याओं का समाधान उन्होंने तथ्य (Is) और कर्त्तव्य (Ought to be) के समन्वय से किया था। तथ्य और कर्त्तव्य के समन्वय से विधि के स्वभाव को व्यवहार या संस्थागत रूप से देखने पर विधि के समालोचना के सिद्धान्तों को जन्म मिला। फलतः तथ्य भी आदर्श हो गया। आदर्श को जीवन में उतारने के लक्ष्य में आदर्श के अधिकतम् पक्ष को समाज में स्थान दिया गया। विधि का कार्य या लक्ष्य नागरिक को जीवन का श्रेय प्राप्त करने की शिक्षा देना माना गया है।

वस्तुतः भौतिक तथा स्वार्थी प्रवृत्तियों से मुक्ति ही वास्तविक स्वतन्त्रता है; क्यों कि प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की तार्किक इच्छा को बल देने के स्थान पर

---

१. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते ऊभे नानार्थे पुरुषम् सिणीतः।

तयोश्रेय आददानस्य साधु भवति, हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते। कठो० १।२।१।

च्युत करती हैं। वे वास्तव में दासतामूलक हैं।[१] श्रेयोमूलक कार्य करने में स्वतन्त्रता है, पतन में नहीं। शारीरिक दासता से वाह्य प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित होकर कार्य करना परतन्त्रता है। श्रेय से सम्बन्ध स्थापित होने से ही समग्र विश्व की छाया और उसके अनुकूल कार्य करने की ओर व्यक्ति अग्रसर होता है।[२] इस प्रकार के कर्त्तव्य स्वीकार करने में मानवीय स्वभाव मूलतः पवित्र और सामाजिक माना गया है। इसी में कर्त्तव्य के साथ अधिकार का भी उदय हो जाता है; क्योंकि दूसरे के हित की अपेक्षा कर 'स्वहित' में स्वेच्छा का प्रयोग करने का तात्पर्य है कि स्वेच्छा 'परहित' से समन्वय स्थापित करके ही चलेगी। 'जो कुछ करने का अधिकार' दूसरे के अधिकार को चुनौती देता है। मानवीय मस्तिष्क सत्य के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर सकता। अतएव संवाद (Synthesis) सर्वथा मानवीय प्रज्ञा का परिणाम नहीं हो सकता। इसका प्रभाव व्यक्तिवाद को नियन्त्रित होने में पड़ा। 'स्व' ही समग्र रूप से विचारणीय न होकर अन्य की इच्छा सापेक्ष हुआ। इसी पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित 'स्व' का विकास ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

विकास की प्रवृत्ति

भारतीय विधि विकास की परम्परा अपने ढंग की है। इसमें प्रतिक्रिया, विकास और यथा स्थिति की सुरक्षा की भावना क्रियाशील रहती है। पूर्व अध्याय में हमने देखा कि सामाजिक विकास के साथ विधि का भी विकास होता रहा। आगे हम देखेंगे कि इस विकास की गति को कौन-सी शक्तियाँ प्रभावित करती हैं। साथ ही भारतीय विधि के आकर-ग्रन्थ इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि विधि के साथ निषेध की सूची सदा यह चेष्टा करती है कि किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय; किन्तु परिवर्तन हो जाने पर उसे वैध बनाने का भी प्रयास चलता है। इस प्रतिक्रिया के साथ ही यह भी देखा जाता है कि जो कुछ वर्त्तमान हो उसको सुरक्षा की जाय। इसमें यथास्थिति

---

1. Pulzky : Theory of law and Civil Society. p. 317.
२. वही पृ० ३४४-९३।

की सुरक्षा की जाती है। इन तीन स्तरों का परिणाम यह हुआ कि विकास में अनावश्यक भावना के माध्यम से समाज के परिवर्तन की दिशा हानिकर नहीं हो पायी। समाज के विकास के इतिहास में सहस्राब्दियों से गुजरने के बाद भी एक सीमा, समन्वय और एकात्मकता बनी रहती है। वेदों से निबन्ध ग्रन्थों तक का समाज एक नहीं और विधि संहिता भी एक नहीं है; किन्तु आधार और उद्देश्य एक ही है जिस पर विकास होता रहा है।

इतिहास चाहे ह्रासवादी, विकासवादी, ज्ञानवादी, भौतिकवादी कोई पक्ष स्वीकार करे किन्तु यह सभी स्वीकार करते हैं कि विधि पर समाज और व्यक्ति का नियन्त्रण होता है। विधि नियन्त्रण मानव स्वभाव है, चाहे उसका रूप कुछ भी हो। साथ ही मनुष्य अपने से अधिक शक्तिमान्, ईश्वर, सामाजिक संघटन आदि जो कुछ भी हो, की विधि में अधिक विश्वास करता है। सभी स्वतन्त्रतावादी दार्शनिक समाज को व्यक्ति के लिए मानते हैं। साथ ही यह भी माना जाता है कि व्यक्ति समाज में रहता है। उसे अपनी इच्छाओं को समाज के साथ ही रखना पड़ेगा। समाज भी बिना विधि के नहीं चल सकता। फलतः मानव जाति के विकास के साथ विधि में भी विकास होता है। यह तथ्य वैदिक ऋचाओं के वैधानिक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। रोमन विधि में उसके संकलन के साथ जितना परिश्रम करना पड़ा उससे कम परिश्रम में ही वैदिक विधि का रूप संहिताबद्ध किया जा सकता है। वैदिक ऋचाएँ वैदिक संगठनों, सदाचार, परम्परा आदि का स्पष्ट चित्रण नहीं करतीं किन्तु इतना तो करती ही हैं कि उनसे विधि का स्वरूप संहिताबद्ध किया जा सकता है और रोमन विधि की अपेक्षा यह कार्य अत्यन्त सरल है।

सेवेग्नी की ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति ने विधि की दिशा में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। भारतीय समाज भी सावयव रूप में विकसित होता रहा है। गौतम, विज्ञानेश्वर एवं जीमूतवाहन के समाज, वातावरण, समस्याओं तथा प्रकार में समानता आधार की हो सकती है समाज के आवरण की

नहीं। आधार की समानता सम्भव हो सकती है; क्यों कि कोई समाज 'समग्र रूप' में परिवर्तित नहीं हो सकता। उसके ढाँचे में परिवर्तन होता रहता है। एक पीढ़ी दूसरी को जो कुछ देती है; प्राप्त करनेवाली पीढ़ी उसे अपने परिवेष में ग्रहण और प्रयोग करती है। जलवायु, स्थानीय विशेषता और आकस्मिक परिस्थितियों मात्र से विधि में परिवर्तन नहीं होता। इनसे तो विधि का परिष्कार होता है। इनको विधि निर्माण का एक मात्र 'कारण' नहीं माना जा सकता। उत्तराधिकार, दत्तक, विवाह आदि की विधि विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं देश-काल के परिवर्तन का स्पर्श करते हुए वर्तमान तक पहुँच पायी है। उसे वही नहीं कहा जा सकता जो हजारों वर्ष पूर्व उसका रूप था; किन्तु उसे मूल से पूर्णतः भिन्न भी नहीं कहा जा सकता। विधि के स्वरूप की जब हम आधुनिक पद्धति से तुलना करने लगते हैं तो भारतीय दृष्टिकोण समझने में कठिनाई होती है। कारण यह है कि भारतीय विधि के स्वरूप आदि का अध्ययन करते समय हम उसके तथा समाज एवं व्यक्ति जीवन के उद्देश्य को धार्मिक तथा सामाजिक मान्यता, आर्थिक परिस्थिति जैसे कुछ मूलभूत प्रश्नों से अलग कर देते हैं जिससे विधि का अपूर्ण रूप ही सामने आ पाता है। इसी आधार पर उपलब्ध स्वरूप की जब हम आधुनिक पद्धति से उपलब्ध सामग्री के साथ तुलना करने लगते हैं तो भारतीय विधि में समालोचना का बड़ा अंश सामने आता है।

विधि के स्वरूप में वातावरण आदि का जो प्रभाव पड़ा उसमें ध्यान देने की बात समाज और राज्य की स्थिति है। भारतीय समाज इतनी दीर्घ कालीन परम्परा में समान रूप से आगे नहीं बढ़ रहा है। उसमें उत्थान और पतन दोनों होते रहे हैं। फलतः विधि विकास में भी 'विकास और प्रतिक्रिया' (Progress and Reaction) दोनों परिलक्षित होते हैं। भारतीय विधि के मूल स्रोत वेद हैं। अतएव उस काल की स्थिति का उस पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। उस समय की कुछ ऐसी विधियाँ हैं। यदि उस काल की सामाजिक स्थिति से उन्हें अलग कर दिया जाय तो आधुनिक विद्वानों के

के समन्वय के लिए समस्या उपस्थित हो जायगी। वातावरण (Circumstance), विशेषता (Peculiarity) और स्थिति (Condition) के सन्दर्भ में ही उन्हें समझा जा सकता है। यदि विधि वातावरण की उत्पत्ति और विकास का परिणाम है तो उसे समाज की माँग को पूरा करना लक्ष्य के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

सभ्यता, संस्कृति के सामाजिक विकास के अध्ययन का वैज्ञानिक प्रकार पश्चिम की देन है। इससे विषय-विश्लेषण में बड़ी सहायता मिलती है। लेकिन जांगल-संस्कृति से पूंजीवादी या जनतन्त्रवादी संस्कृति तक का वे जिस प्रकार स्तर भेद करते हैं, हम उसे भारतीय समाज व्यवस्था में ज्यों-का-त्यों लागू करने में असमर्थ हो जाते हैं। ऋग्वेद को ही यदि सर्व प्रथम विकास का इति-वृत्त बोधक मान लिया जाय तो उसमें उस जांगल संस्कृति, पाषाण, उत्तर पाषाण आदि युगों का चित्रण कथमपि नहीं उपलब्ध होता। ऋग्वेद में जिस समाज की रूपरेखा मिलती है वह उन्नत सभ्य समाज माना जा सकता है। नगरों, गाँवों, शक्तिशाली राजाओं, केन्द्रिय तथा स्थानीय सभा, समितियों, कृषि, व्यापार, उद्योग, विभिन्न धातुओं और मूल्यवान् पत्थरों का ज्ञान और प्रयोग, नौशक्ति का संगठन, औषध और वनस्पति विद्या का परिचय आदि का प्रत्यक्ष और विपुल प्रमाण उस समाज में मिलता है। उत्तराधिकार आदि के नियम आदि भी उनमें व्यवहृत थे।[1] इन आधारों को देखते हुए जांगल-संस्कृति के स्थान पर उच्च सामाजिक स्थितिका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।[2] यदि यह कहा जाय कि सभ्यता के विकास के पहलुओं और प्रारम्भिक स्थितियों का चित्रण हुआ था और संहिताबद्ध करते समय उन्हें मिला दिया गया अतएव दोनों स्थितियों का समान रूप से वर्णन मिलता है तो हम देखते हैं कि एक ही ऋचा में प्रकृति

---

1. Goldstucker : Literary Remains. Vol. I p. 271.
2. Muir : Sanskrit Texts. Vol. I p. 473.
   Wilson : Rigveda. preface.

के सामान्य चित्रण, अस्त्रों के सामान्य रूप के साथ ही दिव्य का भी विवरण मिलता है। जब उन ऋचाओं के ऋषि, देवता आदि का ज्ञान है तो यह कहना तो साहस मात्र है कि जांगल-विवरण पूर्व ऋषि का है और शेष वाद में जोड़ा गया। स्पष्ट है कि भारतीय समाज ने अपने आदिकाल में उस मूल की स्थापना कर ली थी जिसका आगे विकास हुआ।

वैदिक विधि के साथ एक समस्या यह है कि उसमें धर्म और विधि एक हो जाते हैं। मनु के पूर्व तक यह स्थिति बनी रहती है। तत्कालीन समस्याओं के लिए प्रस्तुत सामाजिक विधान (Social Order) की स्वीकृति की रूपरेखा व्यक्त नहीं होती दिखायी पड़ती। प्रस्तुत समस्या तथा सम्बद्ध वस्तुओं के स्थान पर सृष्टि को आदर्शात्मक तथा बौद्धिक रूप देना सामाजिक अक्षमता का परिचायक माना जाता है।[1] यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक विचारक अपर विश्व की स्वप्निल व्याख्या में ही लगे रहे, उनकी बौद्धिक क्षमता अन्तिम लक्ष्य तथा वस्तुओं के विश्लेषण से परे नहीं थी तथापि मानवीय व्यवहार के प्रतिक्षण घटित तथ्यों से उनका समाधान निकट नहीं था। वे वस्तु विश्लेषण में जागरूक तो थे किन्तु उन्होंने उस विश्लेषण में अलौकिक-कार्य कारण (Supernatural Casuation) पर जितना ध्यान दिया उतना ध्यान वस्तु को उसके वातावरण में उसके कार्य (Function) और स्थान (Place) के विवेचन में नहीं दिया। भारतीय विधि अपने विकास में इन तत्त्वों को ग्रहण करती है। इसकी स्पष्टता के लिए हम परिवर्तन के तत्त्वों का रूप प्रस्तुत कर रहे हैं।

विधि में परिवर्तन का स्वरूप और उसकी शक्तियाँ

विधि का अस्तित्व वैधानिक प्रारूप में नहीं वैधानिक संस्थाओं में रहता है।[2] भारतीय विधि के परिवर्तन की स्थिति के मूल्यांकन के लिए उसकी

1. John Dewey : The Influence of Darwin on Philosohhy. p. 8.
2. Ehrlich : Fundamental principles of the Sociology of law : ch. IX The Structure of Legal proposition.

सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन की आवश्यकता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम उन शक्तियों का अध्ययन करें जो परिवर्तन का नेतृत्व करती हैं। विधि का रूप संहिता की अपेक्षा सामाजिक नियमों में अधिक स्पष्ट रहता है। समाज के मुख्य संघटन और मानवीय समाज के तथ्य परस्पर अभिन्न रहते हैं। वैधानिक संघटन—विवाह, उत्तराधिकार, सम्पत्ति सम्बन्धी विधि आदि—के नियम काल और परिस्थिति के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। उनमें विकास अवश्यम्भावी है। वैदिक काल से मनु के काल तक की विधि संहिता और सामाजिक संघटनों के देखने पर यह तथ्य स्वयं-सिद्ध-सा लगने लगता है।

विधि का तात्पर्य विधीय उपबन्ध (Legal provision) और सामाजिक नियम में क्या हो इसमें आधुनिक विधिशास्त्री विधीय उपबन्ध ही ग्रहण करते हैं किन्तु सुव्यवस्थित समाज में विधि समाज के घटकों से अलग नहीं हो सकती। सामाजिक संस्थाओं और समाज के नियम दोनों के सम्मिश्रण से ही विकास होता है। व्यक्ति के संघटनों के मूर्त रूप समाज में परिवर्तन ऊपर से नहीं समाज के संघटनों से आता रहता है। उसमें परिवर्तन हो जाने पर विधि और उसके संस्थान न्यायालय आदि में भी परिवर्तन हो जाता है। रक्त आदि की अपेक्षा परिवर्तन में इस शक्ति का महत्वपूर्ण योग होता है। जब तक सुदृढ़ आधार न प्राप्त हो जाय, विधि में परिवर्तनकारी शक्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। आदर्श के उपलब्ध हो जाने के बाद स्थायित्व आने लगता है। लेकिन परिवर्तनकारी शक्तियाँ अपना कार्य समाप्त नहीं कर देतीं। इस स्थिति में प्राचीन आदर्शों को नवीन स्थिति में ढालने का प्रयास विचारकों से प्रारम्भ होता है। विभिन्न युगों में विचारकों ने अपनी विशेषता स्थायित्व, परिवर्तन, आवश्यकता और माँग में सन्तुलन बनाने में अभिव्यक्त किया है।[1] भारतीय विधि अपना आदर्श रखती है अतएव उसमें परिवर्तन की धारा प्रत्यक्षतः स्पष्ट होकर नहीं चलती।

1. Roscoe pound : Interpretation of legal Histoty. p. 1.

भारतीयों की धारणा में मानव-जीवन न्यायालय का कक्ष नहीं है। व्यक्ति अपने वैधानिक सम्पर्कों का पालन स्वयं करता है। मानवीय समाज इस धारणा और तथ्य पर स्थित है कि वैधानिक कर्त्तव्य स्वयं सम्पन्न होते हैं, इस पर नहीं कि पालन में असफलता से प्राप्त अनुभवों से क्रिया का विकास किया जाय।[1] विधि वैधानिक संस्थाओं में निहित रहती है। मानवीय या सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन से विधि के स्वरूप आदि का चित्रण होता है। मूलतः सभी समाजों का विवरण समान होता है। उनके वैवाहिक नियम, उत्तराधिकार के प्रकार, चल-अचल सम्पत्ति के नियम, समझौता तथा बँटवारा आदि के नियमों का अध्ययन करने पर व्यक्ति एव समाज के वैधानिक सम्बन्धों का ज्ञान सरलता से हो जाता है। विधि की परिवर्तनशीलता पर प्रभावकारी तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए कार्ल रेनर लिखते हैं "शाश्वत विधि के उद्देश्य क्या आर्थिक एवं सामाजिक संघटनों में परिवर्तन के साथ नहीं परिवर्तित हुए ? क्या १७५० और १९०० ई० के बीच उत्तराधिकार आदि के नियमों में परिवर्तन के साथ उनके उद्देश्यों में परिवर्तन नहीं हुआ ? क्या पूँजीवाद के उदय के पूर्व, उदयकाल और उसके उच्चतम काल में विधि के उद्देश्य, व्याख्या और स्वरूप में परिवर्तन नहीं हुआ ?"[2] निश्चय ही शक्ति का आधार सम्पत्ति हो जाने पर सामाजिक शक्तियों और संघटनों में विधि के साथ परिवर्तन हो गया।

रेनर वैधानिक संस्थाओं के आर्थिक और सामाजिक कार्यों का दिग्दर्शन कराते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों परस्पर पूरक हैं। वैधानिक संस्थाएँ आर्थिक संघटनों को प्रभावित करती हैं और आर्थिक परिवर्तन वैधानिक उद्देश्य में परिवर्तन कर लेते हैं। पूँजीवादी समाज में नियुक्ति, श्रम, समझौता यहाँ तक कि उत्तराधिकार आदि के नियमों में आर्थिक कारणों ने परिवर्तन कर दिया। इस समाज में अर्थ समाज एवं शक्ति का आधार

1, Ehrlich : Fundamental principles of the Sociology of law. ch 5.
2. Dr. Friedman : law and Social Change. ch, 2

बन गया। प्राचीन सामाजिक संस्थाएँ अस्त-व्यस्त, अन्त में लुप्त हो गयीं। इतना अवश्य है कि आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन द्रुत-गति से होता है और सामाजिक उद्देश्यों में विलम्ब से। सामाजिक संघटन सरल नहीं जटिल होते हैं। उनमें परिवर्तन के स्तर होते हैं। कभी-कभी क्रान्तियों में परिवर्तन शीघ्र परिलक्षित होते हैं किन्तु उनके बीज पूर्व परम्परा से सिंचित होते रहते हैं।

आर्थिक क्रियाओं को ऐकान्तिकरूप में नहीं देखना चाहिए। वे सामाजिक घटकों में सामाजिक व्यवहार के अंग हैं। उनका सम्बन्ध समाज के उत्पादन और पुनरुत्पादन की क्रिया से होता है। यदि आर्थिक क्रियाएँ समाज के समग्ररूप से सम्बद्ध हैं तो वे वैधानिक संस्थाओं का सामाजिक व्यवहार या कार्य का कारण ही हो सकती हैं। यदि इतिहास के गर्भ में हम आर्थिक प्रक्रिया और वैधानिक लक्ष्य (Legal Norm) को परस्पर मिलाकर देखें तो यह कहना कठिन हो जायगा कि विकास या परिवर्तन एकांगी है। स्पष्टतया ज्ञात होगा कि परिवर्तन सापेक्ष और एक दूसरे के पूरक ही रहे हैं। मेन (Maine) के अनुसार विकास समझौते के स्तर की ओर होता है। इसका प्रतिवाद प्रस्तुत करते हुए रेनर लिखते हैं कि विषमता मूलक समाज में समझौते की सैद्धान्तिक स्वतन्त्रता और समानता, जिसमें पूंजीपति का मूल लक्ष्य उत्पादन से अधिकतम् अतिरिक्त मूल्य प्राप्त कर श्रम का अधिकतम् शोषण करना है, जिसमें पूंजीपति सामाजिक श्रम प्रक्रिया के स्वभाव से नियन्त्रण नहीं करता; अपितु सामाजिक श्रम प्रक्रिया के शोषण के व्यवहार का परिणाम है, पूंजीवादी समाज के श्रम और पूंजी के सम्बन्ध का यह अनिवार्य परिणाम है, में कोई महत्त्व नहीं रखती। इस समाज में श्रमिकों का सम्बन्ध सहकार भावना पर नहीं अपितु पूंजी की स्थापना का आवश्यक परिणाम है। श्रमिकों का परस्पर सम्बन्ध पूंजीपति की पूर्व कल्पना के विपरीत होने से पूंजीपति उनके संगठनों के नियम, व्यवस्था और उद्देश्यों का अपने निर्देशन पर संचालन करना चाहता है।

सम्पत्ति को पूंजी का रूप देने में मानवीय श्रम के कारण अस्वीकार नहीं किये जा सकते। पूंजी में स्वत्व का सम्बन्ध स्थापित करने में सम्पत्ति का स्वामी अन्य को, पूंजी निर्माताओं को, आज्ञाकारी बना लेता है। विधि का सम्बन्ध सम्पत्ति और पूंजी दोनों से है। लेकिन इस रूप में परिवर्तन में उसके स्वरूप में परिवर्तन आ सकता है। इसमें उसे कई रूपों में होकर चलना पड़ेगा। प्रथमतः सम्पत्ति के पूर्व विधियों, पूँजी का रूप देने वालों के सम्बन्ध और यदि पूंजी के निर्माताओं और पूंजी पर स्वत्व मानने वालों में विरोध स्पष्ट होने लगा तो विधि में परिवर्तन होने लगेगा और उसका स्थायित्व उस विरोध के परिणाम पर स्थित होगा। इस परिवर्तन के क्रम में ऐसे भी परिवर्तन होंगे जिनका आधार वैध न होकर शक्ति होगी। पूंजीपति विधि को तथ्य के स्थान पर आज्ञा, दबाव, नियन्त्रण और कूट के द्वारा प्रभावित करना चाहेगा। इससे सामाजिक स्थायित्व का प्रयास शोषण और लाभ के लिए किया जाता है। फलतः साम्पत्तिक संस्थाएँ राज्य के समान अपना स्वतन्त्र संगठन का रूप देना चाहने लगती हैं और वैयक्तिक शक्ति का विकास होने लगता है।

यह तो निर्विवाद है कि परिवर्तन के साथ स्वभाव, दशा और लक्ष्यों में परिवर्तन हो जाता है। अपनी सुविधाओं को उपलब्ध करने की संघर्ष भावना आज सर्वाधिक है। नये विश्व और भविष्य का उत्तरदायित्व सबके ऊपर है। वर्तमान समस्या के समाधान की मनोवृत्ति युग-युगों से चली आ रही है और यह परिवर्तन का द्योतक है। औद्योगिक क्रान्ति और जनतन्त्र आज के मुख्य साधन हैं जिनसे समग्र समाजिक चेतना का निर्देशन हो रहा है।[1] इनसे वैयक्तिक आत्मनियन्त्रण, पारस्परिक सहिष्णुता, जन-चैतन्ययुक्त सहकारिता आज की आदतें बन रही हैं। युग परिवर्तन के इस परिणाम ने मानव के समाजिक व्यवहार को नियन्त्रित किया है। मानवीय सम्बन्ध जनपदीय सम्बन्धों के स्थान पर गोलार्धों तक विस्तृत

1. A Study of History. vol. I p. 14 ff. vol. III p. 363.

हो रहे हैं। वैज्ञानिक क्षमताओं के विकास ने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा इस रूप में की कि वह जिस सामाजिक संघटन का सदस्य है उसमें उसके स्वत्वों एवं क्षमताओं का संरक्षण आवश्यक हो गया।[1] इस नये परिवर्तन ने कुल, कुटुम्ब, संघ (Guild) राष्ट्रराज्य (Nation State) आदि को असफल कर दिया। देश और काल की परिधि कम करने में पारस्परिक प्रतियोगिता ने नयी समस्या जिस रूप में रखा वह नैतिकता एवं धर्म के समाधान से परे है। नये सामाजिक ढांचे का कोई रूप ही नहीं स्थिर हो रहा है। सुधार एवं पुनर्जागर्ति काल ने औद्योगिक क्रान्ति को गति दी। इसने व्यक्ति को स्वतन्त्रता और अवसर दिया; किन्तु परिणाम में स्वतन्त्र व्यक्ति को अन्धकूप में जाने के अतिरिक्त कोई स्थान नहीं बनाया। आज का युग आत्मिक शून्यता, बौद्धिक संशय और राजनीतिक पतन का है। समग्र विश्व सुरक्षा की भावना के साथ विनाश के उपकरण एकत्र कर रहा है। इन सबका प्रभाव विधि के आधार और उद्देश्य पर अनिवार्य रूप से पड़ रहा है।

भारतीय विधि का इतिहास सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से स्थिरता और सामाजिक परिस्थितियों के समाधान में परिवर्तन के मध्यम मार्ग से समन्वय स्थापित करता हुआ चलता है। इस प्रकार का विकास विभिन्न समाजों में पाया जाता है।[2] प्रारम्भिक वैदिक समाज में भी विधि-दर्शन का सूत्र ऋचाओं में उपलब्ध होता है। वैधानिक विचारों पर परिस्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। दार्शनिक अपने युग की अभिव्यक्ति होता है। जब सामान्य सुरक्षा या व्यक्ति व्यवहारों में राज्य का हस्तक्षेप होने लगता है तो दार्शनिक व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez Faire) का विवेचन करने लगते हैं। भारतीय विधि का विकास आर्थिक प्रश्न, कुटुम्ब आदि और सामाजिक संघटनों से प्रभावित है।

---

1. Prof. Schlsinger : The poltiics of Freedom. p, 3.
2. Roscoe pound ; Interpretation of Legal History. p. 1,

कुछ विचारक राज्य संस्था को विधि के परिवर्तन में मुख्य कारण मानते हैं। लेकिन विधि या वैधानिक स्थिति का अस्तित्व किसी भी राजनीतिक संघटन से पूर्व स्थिर हो चुका था। यहाँ तक कि राज्य संस्था के उदय, उसके पूर्व और उसके कार्यान्वयन के समय भी सदाचार के माध्यम से विधि का अस्तित्व समाज में व्यवस्थित होता रहा है। स्वयं राज्य विधियाँ समाज की अपेक्षा करती हैं। उन्हें सदाचार या सामाजिक विधि की सीमा में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं रहता। विधि पर प्रभाव डालने में आर्थिक साधनों एवं संघटनों का भी प्रभाव होता है। विधि के आधार नैतिकता में सामाजिक परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता रहा है। आधार का परिवर्तन हो जाने पर विधि के उद्देश्य में भी परिवर्तन सम्भावित हो जाता है। धर्म और विधि में प्रारम्भिक काल में सम्बन्ध रहता है। भारत में विधि के लिए धर्म शब्द ही दिया गया है। लेकिन सामाजिक विकास के साथ विधि के परिवर्तन पर धर्म का प्रभाव नहीं पड़ता। वे कारण नहीं बन पाते। धर्म विधि विकास में सहायक तो होता है किन्तु विधि धर्म के विकास में कारण नहीं साधन बन सकती है। विधि आधार के रूप में आ जाती है जिससे धर्म का व्यवहार सम्पन्न हो पाता है। यद्यपि विधि के परिवर्तन में परिस्थिति उत्पन्न करने में पुरोहितों, समाज के सहज नेताओं—शिष्टों—का प्रभाव नहीं होता तथापि परिस्थिति के परिवर्तन परिलक्षित कर तदनुरूप विधि को व्यवस्थित करने में उनका महत्व अवश्य होता है। विधि में परिवर्तन उपस्थित करने वाले शाश्वत तत्त्व नहीं होते। देश, काल और परिस्थिति के साथ सामाजिक परिवर्तन की प्रतिक्रिया विधि पर अवश्य परिलक्षित होती है।[1] मात्रात्मक और अंशात्मक अन्तर पड़ना सम्भव है; किन्तु परिवर्तन होता है, इतने अंश में गुणात्मक भेद नहीं है।

सभ्यता और धर्म के सम्बन्ध विवेचन से भी हमारे मुख्य विषय पर प्रकाश पड़ेगा। 'हिस्ट्री ऑफ दि डिक्लाइन एण्ड फाल आफ दि रोमन इम्पायर' के

1. Edmund picard : Factors of legal Evolution.

अन्तिम अध्याय में गिब्बन ने लिखा कि "मैंने बर्बरता और धर्म के विजय का विवरण प्रस्तुत किया।" इस व्यंग का रूप स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "यह ईसाईयत थी जिसने उस सभ्यता को जिसके लिए एन्तोनाइन (Antonines) था, फेंक दिया।" प्रोफेसर टोयन्बी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा कि "गिब्बन ने ईसाइयत के प्रसार से ग्रीक-रोम सभ्यता के पराभव को सभ्यता का पराभव माना है। वास्तविकता यह है कि उस प्राचीन सभ्यता का पराभव ५वीं शती ईसा पूर्व से ही प्रारम्भ हो चुका था। इस सभ्यता का पराभव मृत्यु नहीं आत्म-हत्या से हुई। ईसाइयत उसके लिए उत्तरदायी नहीं। दर्शन की पृष्ठभूमि जिसमें स्वयं ईसाई धर्म लीन होने लगा, उस सभ्यता के लोप का कारण नहीं परिणाम था।"[1]

फ्रेजर के गोल्डेन बाऊ के तथ्य ग्रहण करते हुए टोयन्बी आगे लिखते हैं कि "ग्रीक और रोमन समाज व्यक्ति के समुदाय, नागरिक एवं राज्य-सम्बन्धों की व्याख्या पर निर्भर करते थे। परलोकवाद के सम्बन्धों की स्थापना से व्यक्ति विधि, समाज या राज्य का अवयव हो गया। सर्वोच्च कल्याण, जनहित तथा देश-सेवा में ही व्यक्तित्व की सार्थकता थी। पूर्वीय धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर इन तत्त्वों में परिवर्तन हो गया। आत्मा का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाने पर मोक्ष जीवन का लक्ष्य बना। राज्य एवं समाज का सम्बन्ध गौण हो गया। उनके स्थान पर अदृष्ट लोक की सेवा लक्ष्य होने लगी। राज्य और कुटुम्ब के वन्धन ढीले पड़ गये। रोमन लॉ के पुनरुत्थान, अरिस्टाटिल के दर्शन की भूमिका ने जहाँ पूर्वीय मोक्षवाद से यूरोप की मुक्ति की वहाँ पुनः सामाजिक आदर्शों की स्थापना प्रारम्भ हुई। धर्म के स्थान पर सभ्यता को प्राथमिकता प्रदान की गयी।"

विश्लेषण के बाद टोयन्बी इस निष्कर्ष पर आते हैं कि "धर्म सभ्यता का दास है। धर्म लौकिक सभ्यता के उद्भव में कारण नहीं होता अपितु इसके स्थान पर सभ्यता और संस्कृति के उत्थान पतन धर्म को जन्म देते हैं। कष्ट

1. Toynbee : Civilisation on Trial, P. 44.

के गर्भ में अध्ययन का परिपाक होता है। सभ्यता की भूमि पर ही धर्म का रथ स्वर्ग की ओर जाता है। सभ्यता का अस्तित्व उत्थान और पतनमूलक है। इसमें प्रत्यावर्त्तन होता है किन्तु धर्म सीधे ही जाता है।" भारतीय विधि का आधार ही धर्म है। उत्तराधिकार, विवाह, दत्तक आदि विधियाँ धर्म पर आधारित हैं। मेन ने विधि के निर्माण में धर्म का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] लेकिन मेन ने उत्तरकालीन उदाहरणों को ही अपने विश्लेषण का आधार बनाया। जिस बहुदेववाद की चर्चा उन्होंने की वह 'एक का ही बहुरूप' में चित्रण है अन्यथा ऋग्वेद से ही एक तत्त्व का निर्वचन चला आ रहा है।[2] भारतीय आत्मवाद में निष्क्रियता और निराशा का प्रश्न ही नहीं उठने दिया गया। जिस दैवी स्थान पर उन्हें पहुँचना था[3] उसके लिए कर्त्तव्यों की जागरूकता इस रूप में कारण बनी कि उसमें स्वयं मृत्यु की प्रतिक्रान्ति छिपी थी। मृत्यु के स्थान पर जीवन परिवर्तन के सिद्धान्त ने सतत क्रियाशीलता को जन्म दिया। इस स्थिति में समाज एवं कुटुम्ब के सम्बन्धों के पालन की अनिवार्यता स्थापित की गयी। फलतः समाज, राज्य और विधि के सम्बन्धों में विकास होता गया और स्पष्टता आती गयी। विधि की पूर्णता में ही महान् लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव हो सकती थी। समाज और राज्य दोनों से ही ऊपर विधि की स्थापना की गयी और उसे क्षत्र का भी क्षत्र माना गया।[4]

स्पष्ट है कि विधि के नियमों में सदा परिवर्तन होता रहा है। समाज की स्थितियों में परिवर्तन होने के साथ नियमों में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी

---

1. Hindu Law and Usage. II chapter.
२. ऋ. १०।१२९।१-३।
३. ऋ. १०।८२।५।
४. स नैव व्यवभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्मात् धर्मात् परं नास्त्यथोऽबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथाराज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्त माहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति। बृ. आ. उ. १।४।१४।

है और विधि का रूप बदल जाता है। एक काल के नियम दूसरे काल में भिन्न हो जाते हैं। एक युग की नैतिकता दूसरे युग में अनैतिकता मान ली जाती है। जिन विशेषताओं से कृतयुग, त्रेता और द्वापर पुण्य युग माने जाते थे, वही कलियुग में कलिवर्ज्य हो गये; क्योंकि उन्हें कलियुग की नैतिकता स्वीकार नहीं कर सकती थी। इस प्रकार के परिवर्तन में आर्थिक कारणों का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। आर्थिक कारणों का प्रभाव सामाजिक परिवर्तनों पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। भारतीय विधि विकास में भी सामाजिक कारणों का प्रभाव परिलक्षित होता है। धर्मशास्त्रों से अर्थशास्त्रों तक इसका प्रभाव स्पष्ट होता है। विधि के विकास एवं आर्थिक कारणों से सम्बन्ध निर्धारण में बड़ी कठिनाई है क्योंकि भारत में देश एवं काल की समस्या असामान्यरूप से उलझी हुई है। शास्त्र भी स्थानीय हैं किन्तु उनकी मान्यता देशिक आधार पर है। अतएव उनकी विभिन्न समस्याएं परस्पर विरोधी हो जाती हैं। इस स्थिति से विधि एवं आर्थिक कारणों के समन्वय में जटिलता बनी रह जाती है। फिर भी कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सामाजिक विधि के विकास में आर्थिक कारणों का योग रहा है।

वेदों में ऋषिऋण का उल्लेख मिलता है। लेकिन स्मृतियाँ विवाद में ऋणादान को प्रथम स्थान देती हैं। इस प्रकार विधि में ऋण को प्रथम स्थान मिल गया। मानव धर्मशास्त्र एवं नारदस्मृति में ऋण के सम्बन्ध में एक भाग ही स्वतन्त्र दिया गया। इतना ही नहीं बिना ऋण चुकाए मर जाने वाले को पुनः ऋणदाता के यहाँ दास के रूप में जन्म लेना पड़ता और श्रम करके चुकाना पड़ता। अन्यत्र अधिक सूद लेने वाले को चोर और अनैतिक कहा गया है।[1] वर्ण व्यवस्था के अनुसार समाज के विभिन्न अंगों में स्तर भेद किया गया। ऋण और उसके व्याज में भी जाति के अनुसार दर निश्चित करना पड़ा। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय आवश्यकता पड़ने पर भी सूद

१. नारद. १।८।; याज्ञ. १।१२३।; वशिष्ठ. २।४१।

से रूपया नहीं कमा सकते थे।[१] लेकिन याज्ञवल्क्य के समय में स्थिति बदल चुकी थी। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के साथ आर्थिक नियमों में समन्वय किया और आवश्यकता पड़ने पर ब्राह्मण एवं क्षत्रियों को सूद लेने का विधान बनाया।[२]

प्रारम्भ में ऋण शब्द का ज्ञान मात्र ही था किन्तु स्मृति काल में सूद के अवान्तर भेद भी किये गये जो विकसित अर्थ पद्धति ही में संभव हैं। अतः सूद के ६ भेद माने गयें हैं—कायिका, कालिका, चक्रवृद्धि, कारिता शिखावृद्धि और भोग लाभ।[3] स्पष्ट है कि सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन के साथ ही आर्थिक जीवन में परिवर्तन हुआ और विधि में परिवर्तन करना पड़ा। आर्थिक जीवन, व्यापार एवं आर्थिक दशा आदि के विकास से व्याज के अवान्तर भेद करने पड़े।

सामान्यतया व्याज लिखित एवं अलिखित दो नियमों पर चलता रहा। सामाजिक एवं आर्थिक दशा में परिवर्तन के साथ व्याज की दर में भी परिवर्तन हुआ। सामान्यतया २० कार्षापण ५ माश मासिक की दर से सूद प्रतिमास लिया जाता था। अन्य स्मृतियों में पूंजी का १।८० भाग व्याज माना गया।[४] स्मृतियों के अनुसार १५ प्रतिशत वार्षिक के अनुसार सूद का विधान था, यदि व्याज की दर लिखित है। उनमें अनेक अपवाद भी थे। कौटल्य के समय व्यापार जंगल और समुद्र के माध्यम से ही रहा था। अतएव व्याज की दर परिवर्तित करनी पड़ी। उसके अनुसार व्यापारिक ऋण पर ५ पण

---

१. वशिष्ठ. २।५।; मनु. १०।११७।

२. याज्ञवल्क्य ३।४१–४२।

३ वृ: ११।५,६,७,८।; गौ० १२।३५।; कात्यायन ४९८,४९९,५००।

४. याज्ञ. ३।२७।; मनु. ८।१४०।; कौ. ३।३।; बृ. ११।३४।

प्रतिशत और समुद्र व्यापारियों के ऋण पर २० पण व्याज देना पड़ता।[1] व्याज की दर मूलधन के लिए उठाये जाने वाले जोखिम के अनुसार बढ़ता है। सामान्य स्थिति में दिए गये ऋण की अपेक्षा जंगल एवं समुद्र व्यापारियों को दिए गये ऋण में अधिक जोखिम था। अतएव व्याज की दर भी उसी अनुपात में रखकर आर्थिक एवं सामाजिक विधि में समन्वय कर दिया गया। समुद्र व्यापारियों को दिया जाने वाला ऋण सबसे अधिक विपद्ग्रस्त था। अतएव उस पर सर्वाधिक व्याज लगाया गया था।

सामान्य स्थिति में व्याज की दर २ प्रतिशत प्रतिमास और २४ प्रतिशत प्रतिवर्ष माना जाता था।[2] अन्यत्र १$\frac{१}{२}$ प्रतिशत का विधान किया गया है। इस विभिन्नता का कारण है कि २ प्रतिशत का विधान अलिखित ऋण का व्याज है। अलिखित ऋण पर जोखिम अधिक रहता। अतएव लिखित की अपेक्षा उस पर अधिक व्याज देना पड़ता। कुछ स्मृतियों ने ३, ४ एवं ५ प्रतिशत तक व्याज की दर माना है।[3] सामाजिक स्थिति के अनुसार ही विधि का निश्चय किया गया। जिनके व्याज में जोखिम अधिक था, व्याज की दर भी उन्होंने उतना ही अधिक रखा। सामाजिक स्थिति आर्थिक नियमों में समन्वय करते हुए ऋण के कुछ अपवाद भी स्वीकार किये गये जिनमें व्याज नहीं लिया जाता। यज्ञ, शिक्षा और औषधि के लिए पीड़ित व्यक्ति, अनाथ, वृद्ध एवं बालक से वर्जित किया गया। कुछ पारस्परिक सम्बन्धों में भी व्याज नहीं था, यदि था, तो चक्रवृद्धि आदि नहीं केवल सामान्य।[4]

सूद का अधिकतम् अंश कितना हो, इसके निर्धारण में देश का प्रभाव माना गया। मूलधन से दुगुने से आठगुने तक का देश के अनुसार व्याज

१. कौ. ३।२।; याज्ञ. २।३८।
२. याज्ञ. २।३८।
३. याज्ञ. २।३७।; मनु. ८।१४१।; नारद. १।१००।; वि. ६।२।; वशि. २।४८।
४. वशिष्ठ. २।४९।; नारद. १।१०८–१०९।; याज्ञ. २।५९।; मनु. ८।१४३।; वि. ६।५।; गौ. १२।३२।; कौ. ३।२।

कुल योग में लेने का नियम पाया जाता है।[१] व्याज अदा करने के काल और उसके अनुपात से व्याज की दर में आर्थिक जीवन के आधार पर अन्तर पड़ता है। स्वर्ण का व्याज जितने काल में दुगुना माना गया सोम का ८ गुना।[२] इसी प्रकार वस्त्रों, औषधि तथा अन्य वस्तुओं में भी विभिन्नता मानी गयी है।[३] कोश से सम्बद्ध व्याज के उसी स्थान पर रखने या बाहर ले जाने के अनुसार व्याज की दर में अन्तर हो जाता है।[४] अन्न का व्याज फसल होने के समय में वसूल किया जाता। उस समय अन्न का मूल्य कम हो जाता। अतएव अन्न का व्याज अनुपात से अधिक हो जाता। इसलिए फसल होने के पूर्व अन्न के व्याज की वसूली नहीं होती थी। समुद्र के व्यापारी से अधिक व्याज लेने का कारण जोखिम उठाना ही नहीं था अपितु विदेशों में आय अधिक होती थी। अतएव उस पर व्याज भी अधिक देना पड़ता था। इस प्रकार सामाजिक स्थिति एवं आर्थिक नियमों में समन्वय किया गया। विभिन्न वस्तुओं, कपड़ा, औषधि, रांगा, जस्ता आदि पर निर्धारित व्याज की दर से ज्ञात होता है कि आर्थिक जीवन, विधि संहिता की अपेक्षा अधिक जटिल एवं शक्तिमान् था। निर्धारित अवधि में व्याज न अदा करने पर नया अनुबन्ध लिखा जाता और मूलधन में व्याज जोड़ दिया जाता। स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्यवस्था आर्थिक जीवन के प्रभाव से उत्पन्न हुई।

कौटल्य काल तक राज्य का कल्याणकारी रूप विकसित हो चुका था। कौटल्य ने बाजार-मूल्य निर्धारण राज्यक्षेत्र में लिया था। व्यापारी जो माल बाहर भेजते, उसका भी राज्य द्वारा मूल्य निर्धारण होने लगा। निर्यात का

१. नारद. १।१०६।

४. बृहस्पति. १३।१२।

३. बृ. ११।१३।११।१६।; याज्ञ. २।१९।; वि. ६।१३,१६।; वशि. २।४४, ४६, ४७।; नारद. १।१०७।; बृ. १।१३।; गौ. १२।३६।८।१५३–४।; कात्या. ५१०–५१३।

२. कौ. ३।२।

औसत स्थानीय उत्पादन के विपरीत नहीं होता था। उत्पादन का वही अंश निर्यात किया जाता जो देश के उपभोग से शेष था। यद्यपि व्यापार में वैयक्तिक स्वतंत्रता स्वीकार की गयी थी तथापि उस पर नियन्त्रण सामाजिक कल्याण के लिए करना आवश्यक हो गया। व्यापार विभाग का अध्यक्ष वस्तु के उत्पादन, विक्रय, मूल्य आदि की देख-रेख करता। व्यापारिक वस्तुओं का केन्द्रीयकरण हो जाता और उसका मूल्य निर्धारित कर प्रसारित कर दिया जाता। उस मूल्य के प्रसिद्ध हो जाने पर नए माल की घोषणा आवश्यकतानुसार होती रहती। केन्द्रीय एवं स्थानीय दोनों व्यापारिक वस्तुएँ उचित मूल्य पर ही बेची जायँ, इसके लिए सार्वजनिक एवं वैयक्तिक उत्पादन केन्द्रित कर माँग और पूर्ति का जन कल्याण के साथ सन्तुलन करते हुए वस्तु को बाजार में भेज दिया जाता। उनका विक्रय निर्धारित एवं उचित मूल्य पर होता। जिन वस्तुओं की दीर्घ काल तक माँग बनी रहती उनके विक्रय में शीघ्रता नहीं की जाती।[1] विदेशों को माल निर्यात करनेवाले व्यापारियों को कुछ करों से मुक्त भी किया जाता था।[2]

राज्य कभी जनकल्याण के विपरीत मूल्य निर्धारित नहीं करता था। जिस वस्तु की मांग होती उसकी पूर्ति कभी भी नहीं रोकी जाती और उसको केन्द्रियता के बन्धन में भी नहीं डाला जाता। स्थानीय उपभोग से शेष वस्तु के निर्यात पर किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचायी जाती। उसके लिए आवश्यक सुविधा दी थी। विदेशी व्यापारियों को भी सर्वसंभव सुविधा दी जाती। वस्तुओं के आयात-निर्यात में जनकल्याण को महत्व देकर उनकी सीमा निर्धारित होती। लाभ को ही स्थान नहीं दिया जाता।[3] राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य पर वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर प्रतिदिन निरीक्षण होता।[4] मूल्य

---

१. कौ. २।२१६।

२. कौ. २।१६।

३. कौ. २।१६।;२।१२।; मनु. ३।३३९।; याज्ञ. २।२६१।; वि. । ५।१३०।

४. याज्ञ. २।२५१।; मनु. ८।४०२।

जानते हुए अधिक मूल्य लेने पर अधिकतम् जुर्माना देना पड़ता।[१] विदेशी माल को भी निश्चित मूल्य सें कम या अधिक में बेंचने पर इसी प्रकार का दंड दिया जाता।[२]

सिंचाई के साधनों का विकास, नवीन भूमि पर कृषि आदि की आवश्यकता कौटल्य के समय में अधिक महत्व के साथ स्वीकार कर ली गयी थी। अतएव तालाव, कूप, नहर एवं बाँध आदि के निर्माण में राज्य की ओर से अधिकतम् सुविधा दी गयी। नवीन भूमि पर कृषि करने वालों से ५ वर्ष तक कर नहीं लिया जाता। सिंचाई के सम्बन्ध में किसी प्रकार की योजना के लिए ऋण पर तीन वर्ष तक व्याज नहीं देना पड़ता। जो स्थान निर्जन थे उनका कोई उपयोग नहीं था। उन स्थानों पर जनसंख्या बसाने की योजना कौटल्य ने प्रारम्भ की। इससे उन स्थानों को अधिक महत्व दिया जाता जहाँ पानी की सुविधा हो,[३] जिससे उत्पादन की सुविधा, संरक्षण और बाजार की व्यवस्था हो सके। इससे जनसंख्या की अदला-बदली हो सकती थी। नए स्थान पर बसने वालों को कर नहीं देना पड़ता। ब्रह्मदेय या अन्य प्रकार की माफी दी गयी। भूमि से उत्पन्न वस्तु को बाजार भेजे जाने के लिए प्रतिबन्ध था; क्योंकि वे उपभोग के लिए थीं प्रतियोगिता के लिए नहीं। राज्य नई बस्तियों के लिए सड़क, जल, पशुपालन, औषधि आदि की व्यवस्था के साथ उनकी आन्तरिक स्थिति की भी देखभाल करता था।[४]

भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में भी कौटल्य ने क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। कृषि पर उसी का स्वामित्व माना जाता जो कृषि करता। भूमि लेकर उस पर कृषि न करने वालों से भूमि लेकर दूसरे को जो कृषि करता, दे दी जाती। भूमि पर कृषि करे या न करे पर कर देता है, फिर भी उसके

१. याज्ञ. २।२५९। कौ. २।६।
२. याज्ञ. : २।२५०।
३. कौ. ७।११।
४. कौ. २।१।

पास भूमि नहीं रहने दी जाती। इससे स्पष्ट है कि राज्य केवल शुल्क संग्रह करने के स्थान पर राष्ट्रीय उत्पादन को प्राथमिकता देने लगा। कृषि विकास करने वालों को राज्य, मुद्रा, बीज, पशु एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ देता।[1] आर्थिक सहायता देने में नगर एवं ग्राम का भेद नहीं किया जाता। ध्यान देने की बात है कि कौटल्य राज्यकोष की वृद्धि करभार से नहीं उत्पादन के साधनों में विस्तार से करना चाहते हैं। नयी भूमि पर कृषि को प्रोत्साहन देने में भूमि सम्बन्धी विधि में भी परिवर्तन हो गया। कर व्यवस्था के दो उद्देश्य थे—राजकोष में वृद्धि और प्रजा में संवृद्धि। धर्मशास्त्रों, महाकाव्यों एवं कौटल्य में करनीति के सम्बन्धों में तात्विक मतभेद हैं। कौटल्य कर ग्रहण में कूटनीति का भी आश्रय लेते हैं। मनु के अनुसार प्रजा से उसी प्रकार कर लेना चाहिए जैसे मधुमक्खी पुष्प से रस लेती हैं। गाय से उतना ही अधिक दूध मिल सकता है जितना वह पुष्ट होगी। अतएव दूध लेने के लिए पुष्ट रखना आवश्यक है। इसी प्रकार प्रजा से कर-ग्रहण में राजा की नीति होनी चाहिए। अन्यायपूर्वक कर ग्रहण करने वाला राजा सपरिवार नष्ट हो जाता है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक जीवन में विकास के साथ राजनीतिक एवं सामाजिक विधियों में भी परिवर्तन होता गया। राजशक्ति का विकास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए हमें विषय सामग्री प्रस्तुत की। आगे हम अपने प्रतिपाद्य विषय पर आ रहे हैं। उसके विवेचन में हमें पग-पग पर उपर्युक्त तथ्य सिद्ध होते दिखायी पड़ेंगे। अपराध एवं दंड के किसी भी अंश के विश्लेषण, विकास में परिवर्त्तन और सामाजिक शक्तियों की क्रियाशीलता अवश्य दीखती है। इस पृष्ठभूमि पर सामाजिक आवरण को शाश्वत और सनातन मानना सम्भव नहीं।

---

१. कौ. ५।२।५।३.

२. मनु. ७।१२९।; महाभारत. १२।८८।४।; १२।८७।२०–२१।;१२।७।१५।; १२।८८।१२।; १२।८७।२२–२३।;१२।७१,-१६-१७।;१२।१२०।३३।;

अध्याय ३

अपराध और उसके प्रकार

मानव जीवन पूर्ण नहीं है। वह पूर्णता की ओर प्रयास करने के बाद भी अपूर्णता की ही ओर उन्मुख होता हुआ दिखायी पड़ता है। समाज के विकास की प्रारम्भिक स्थिति में इस समस्या का समाधान पाप-पुण्य की सीमा में रखकर किया जाता है। लेकिन समाज के विभिन्न तत्वों के विकास के साथ ही पाप-पुण्य का सिद्धान्त समाजशास्त्रीय रूप धारण करने लगता है। उस समय पाप अपराध के रूप में परिवर्तित होता है और प्रायश्चित के स्थान पर दंड सिद्धान्त क्रियाशील होता है। समाज में विवेक और बुद्धि को जितना ही स्थान दिया जाता है अपर लोक की सत्ता के स्थान पर इस लोक की सत्ता का विकास होता है। इस लोक की सत्ता में समाज की शक्ति के साथ राज्य की शक्ति का परिगणन किया जाता है। इसी प्रकार पाप के प्रायश्चित के स्थान पर दंड की व्यवस्था होने से अपर लोक की शक्ति के स्थान पर राज्य और व्यक्ति का संचालन में मुख्य स्थान बन जाता है। व्यक्ति अपने लाभ और हानि में ईश्वर के स्थान पर तत्काल उसकी लौकिक पूर्ति चाहने लगता है। इस स्थिति में उसकी पूर्ति कराने वाले लौकिक संगठनों का अधिकार क्षेत्र विकसित हो जाता है।

अपराध का विकास

प्रारम्भिक समाजों में भी दूसरों के हितों को समाप्त करने की क्रिया अनुचित समझी जाती रही। वध एवं चोरी आदि शाश्वतरूप से सर्वत्र अनुचित माने गये हैं। प्रारम्भिक समाज में दैवी भावना का अधिक प्रभाव रहने से उचित और अनुचित के फल का सम्बन्ध ईश्वर एवं सदाचार से जोड़ा गया।

सदाचार की अवहेलना अपराध माना गया है और सदाचार का उल्लंघन व्यक्ति, समाज या समुदाय का अपराध स्वीकार किया गया। ईश्वर नैतिकता का संरक्षक था और सभी देवता मानव कल्याण चाहते थे। अतएव मानवीय कल्याण के विपरीत किया गया कार्य दैवी इच्छा के विपरीत समझा गया। ऐसे कार्यों का सम्बन्ध समाज एवं देवता से सम्बद्ध होने से वे पाप और अपराध दोनों माने गये। इस समाज में धर्म, सदाचार और विधि के साथ ऐसा सम्बन्ध रहता है कि पाप एवं अपराध नैसर्गिक विधि, दैवी इच्छा और सामाजिक क्षति से सम्बद्ध होने से वे पाप और अपराध दोनों माने गये। इस समाज में धर्म, सदाचार और विधि के साथ ऐसा सम्बन्ध रहता है कि पाप एवं अपराध नैसर्गिक विधि दैवी इच्छा और सामाजिक क्षति से सम्बद्ध रहते हैं। फलतः व्यक्ति द्वारा किया गया प्रयास सदाचार और विधि की मर्यादा स्थापित करने लगता है। उनका उल्लंघन अपराध कहा जाता है। अपराध का क्रमिक विकास वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो जाता है।

वैदिक काल

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद की ऋचाओं में पाप की धार्मिक व्याख्या का अभाव हैं लेकिन ऐसे आक्षेप निराधार हैं। नैतिकता के मूलभूत आधार उस समय भी विद्यमान थे।[१] अनेक ऋचाओं में ईश्वर पाप की दृष्टि से देखता है। विभिन्न ऋचाओं में पाप-पुण्य की व्याख्या की गयी है। उस पाप में अपराध भी समाविष्ट है। इस प्रकार के सम्मिश्रण का कारण यह है कि उस काल में व्यवहार विधि (Civil) नैतिक विधि (Moral law) और विधीय अपराध (Legal guilt) विभक्त नहीं हुए थे। ऋत या दैवी विधि के किसी अंश की उपेक्षा करना पाप है। इसे ही ईश्वर के प्रति अभिद्रोह (दैवी अभिद्रोह) भी कहा गया है[२]।

---

१. राधाविनोद पाल: दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दू लॉ, पृ. १६७।

२. दैव्य े जनेऽभिद्रोहम्। ऋ. ७।९०।५।

यद्यपि पाप और अपराध अलग नहीं हो पाए थे तथापि पाप के आधार, कारण, परिस्थिति आदि की व्यख्या हो चुकी थी। ज्ञान और अज्ञान अवस्था में किये गये पाप में भेद किया गया और उनके आधार पर निर्णय में भी भेद हुआ।[१] वशिष्ठ ने वरुण की प्रार्थना करते हुए कहा "ओ वरुण ! पाप स्वयं की पाप प्रवृत्ति से नहीं उत्पन्न हुआ। इसका मूल सुरा (श्रुति), क्रोध, द्यूत या अचिति (Ignorance) में है।[२]" इस ऋचा से स्पष्ट होता है कि पाप आन्तरिक वृत्ति नहीं वातावरण सापेक्ष है। पहला पाप दूसरे का जनक है। स्वप्न भी पाप के कारण हैं।[3] पाप वंशानुक्रम से भी विकसित होता है।[४] फलतः वैदिकों के अनुसार पाप इच्छा से स्वीकृत व्यवहार के उस रूप को कहते हैं जिसका परिणाम बुरा होता है।[५] वे देवता के प्रति अनुचित एवं दैवी विधि के प्रतिकूल हैं। उस काल में, जब समाज का प्रकृति से अन्यतम सम्बन्ध था, नैतिक विश्लेषण में भाग्य, अदृष्ट शक्ति और अचिति (Ignorance) को अलग नहीं किया जा सका। फलतः विवेक (Intention) की व्याख्या बिना किये पाप वंशानुगत मान लिया गया और प्रकृति से किसी रूप में (ज्ञाताज्ञात) सम्बन्धों का उल्लंघन पाप माना गया। कुटुम्ब और संघटन का भी उससे सम्बन्ध स्थापित हुआ। अतएव क्षतिपूर्ति, जो सुसंगठित समाज में ही सम्भव है[४], पर विशेष ध्यान दिया गया।

---

१. पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षवो एभि चिकितुषो विपृच्छम्।
समानमिन्मे कवयाश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥ ऋ. ७।८६।३।

२. ऋग्वेद. ७।८६।६।
तुलनीय Neibuhr : Human Destiny p. 222.

३. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजानोऽव या वयं चकृमा तनूभिः।
अव राजन्यशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्। ऋ. ७।८६।५।
तुलनीय Neibuhr Gifford lecturas Vol. lch. vii.

4. Prof. Emond N. Cahn :The Sense of Injustice p.158.

वशिष्ठ सूत्र में निऋति की व्याख्या से अपराध के ऐतिहासिक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। ऋत का विलोम निऋति है जिसे सभी पापों का मूल माना गया है। वशिष्ठ यहाँ निर्वैयक्तिक नैतिक विधि (Impersonal Moral law) का निर्देशन कर रहे हैं। फलतः उनके अनुसार "जो भी व्यक्ति प्रकृति के नियमों से परे होगा वह कष्ट पाएगा।" वशिष्ठ स्वेच्छा को स्थान देकर भाग्यवाद को कम करते हैं। व्यक्ति यदि अपराध नहीं करता तो उसे वाह्य शक्तियों से दण्ड नहीं मिल सकता। स्वेच्छा के विवाद में न पड़कर इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यक्ति में रहनेवाली और उसके द्वारा व्यवहार की जाने वाली क्रिया का परिणाम दण्ड है, वाह्यापेक्षा का कोप नहीं।[१] दैवी शक्तियाँ स्वयं ऋत की अवहलेना पर दण्ड की सीमा में हैं। उसकी शक्ति से परे कोई नहीं।[२] इस अवस्था में नैतिक और न्यायिक विधियाँ परस्पर घुली-मिली हैं। शारीरिक सम्बन्धों से भी उनका विभाग नहीं हो पाया है।

प्रश्न यह है कि ऋत के सम्बन्ध में मानवीय इच्छा कहां तक स्वतन्त्र है? इसमें अन्य सदस्यों का कल्याण ध्यान में रखना आवश्यक है। यदि व्यक्ति आन्तरिक रूप में अपनी अध्यवसायात्मिका बुद्धि से परे होकर वाह्य प्रभाव से अपराध करता है तो वह अपराध का मूल नहीं माना जायगा। देवेच्छा सभी वाह्य प्रभावों से मुक्त है। मनुष्य में अन्तर्निहित प्रज्ञा बौद्धिक और भावुक व्यक्ति के निर्णयों को प्रभावित करती है। उन आचारों से सम्बद्ध व्यक्ति उस अवस्था में किये कार्य के लिए एकमात्र उत्तरदायी नहीं है।

वैदिक समाज में पाप और अपराध की सूची क्रमवद्धरूप में नहीं प्रस्तुत होती। ऋत के विपरीत कार्य दैवी और सामाजिक अपराध एवं पाप माना गया। अपराध की सूची में ऋत, दैवी इच्छा और सदाचार के विपरीत किये गये कार्यों का संकलन किया जा सकता है जिसका निर्देश वेद

1. Miraglia: Comparative legal Philosophy. P. 180.
२. यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः। ऋ० ७।८७।७।

करते हैं। इसीलिए आगे चलकर वेद-विरुद्ध कार्य अपराध माने गये। वैदिक समाज के साथ ऐसे समाजों का संकेत मिलता है जो ऋत की विधि, यज्ञीय जीवन, वैदिक भाषा एवं सदाचार में अविश्वास करते थे। उन्हें अनृत, मृध्रवाच्, अश्रद्ध, अयज्ञ, अपव्रत आदि कहा गया। वे दस्यु एवं किरात कहे गये।[1] इनके आचार और व्यवहार वैदिक दृष्टि में पाप और अपराध माने गये।[2] उनका परिगणन अपराध की सूची में हो गया। अतएव इस प्रकार का आचरण करने वाले वैदिक समाज के सदस्यों के भी आचरण अपराध एवं पाप माने गये। ऋत, दैवी इच्छा, सदाचार के साथ असामाजिक कार्य (वेद विरुद्ध) का समावेश अपराध में हुआ। इसमें ऋण आदि से लेकर अवैदिक समाजों से सम्बन्ध भी रखना अपराध माना गया।

वैदिक समाज में अपराधी एवं अपराध की मनोवृत्ति की स्पष्ट व्याख्या नहीं होती। लेकिन द्रोह (अपराध) की सूची पायी जाती है। जल को नष्ट एवं गन्दा करना, अन्न को नष्ट करना आदि द्रोह माना गया। चोरी भी इसी प्रकार का अपराध रहा।[3] द्यूत और उसके लिए लिया गया ऋण अपराध माना गया।[4] वैदिक समाज से ही वैयक्तिक सम्पत्ति का सिद्धान्त मान्य रहा है लेकिन उसके उचित प्रयोग में समाज एवं राज्य के नियम भी रहे हैं। कृपणता अपराध था। द्यूत एवं ऋण में आई स्त्री का शीलहरण महान् पाप माना गया।[5] पिता की आज्ञा का उल्लंघन भी द्रोह की सूची में आ गया था। चोरी एवं डाका की घटनाएं होती थीं। गाय एवं

---

१. न्यक्रतून् ग्रन्थिनां मृध्रवाचः पणीरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्र प्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारा पराँ अयज्यून्। ऋ० ७।६।३।

२. ऋ० ७।६५।२।; ६६।१३।

३. ऋ० ४।३८।५।।; ५।१५।५।

४. ऋ० ७।११८।१।

५. ऋ० १०।११७।२।; १०।१०७।५।; १०।३४।४।; २।२९।१।

वस्त्र आदि के चोरों को 'तयुस' कहा गया है।[1] चोरी के अपराधियों को राजा के सामने प्रस्तुत किये जाने का उल्लेख है। उन पर चोर के चिह्न लगाने का भी प्रमाण मिलता है।[2]

उत्तरवर्त्तीकाल

वैदिक समाज के विकास के साथ अवैदिक समाजों का प्रभाव तथा अन्य कारणों से ब्राह्मण ग्रन्थों तक ऋत का धर्म में परिवर्तन हो गया। धर्म का अधिक अंश सामाजिक था। इस काल में पाप और अपराध अधिक स्पष्ट होने लगते हैं। साथ ही सामाजिक विधि एवं अपराधों में विस्तार होता है। यह स्थिति धर्मसूत्रों तक चलती रहती है। धर्मसूत्रों के बाद धर्मशास्त्रों के प्रणयन के समय स्थिति में परिवर्तन होता है। उसका प्रभाव अपराध के संकलन पर भी पड़ता है। धर्मसूत्रों में कौटुम्बिक जीवन, धार्मिक संस्कारों एवं विधियों की प्रधानता है लेकिन धर्मशास्त्रों ने अपने परिगणन में धर्मसूत्रों के अनेक विषयों को छोड़ दिया। धर्मशास्त्रों में सामाजिक, राजनीतिक एवं लौकिक विषयों की स्थापना का प्रयास किया गया। आधुनिक शब्दों में कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र इस अंश में; लौकिक (Secular) हो जाते हैं।

धर्मशास्त्रों तक अपराधसंहिता में व्यवहार विधि और दण्डापराधविधि का भेद स्पष्ट होने लगा। प्रोफेसर हाप्किंस के अनुसार इस प्रकार का भेद सर्वप्रथम मनु करते हैं। उत्तरवर्त्ती स्मृतिकारों ने उनका अनुकरण किया। मनु ने विवाद के १८ शीर्षक दिए हैं। इनमें व्यवहारविधि और दंडापराध विधि का समावेश किया गया। बृहस्पति ने भी १८ विभाग किये हैं। उनके विभाग पर तत्कालीन प्रभाव अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस काल तक 'अनादेयवाद' की सूची आती है जिस पर न्यायालय में विचार नहीं

---

१. ऋ० १०।४।६।; ४।३८।५।; ६।१२।५।
२. ऋ० १।२४।१४।१५।; ७।८६।५।; ५।७९।१।; १।२४।१२-१३।

किया जा सकता। इसका तात्पर्य है कि कुछ अपराध वैयक्तिक, कौटुम्बिक एवं सामाजिक हैं जिनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, स्वामि-सेवक आदि के विवाद इसी कोटि के माने गये हैं।[1]

वेदों से स्मृतियों तक अपराध के आधार और स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। वेदों में स्तेय महान् पाप एवं अपराध था। सूत्रकाल में चोर राजा के सामने ले आया जाने लगा। बृहस्पति के समय चोरी, वाक्पारुष्य, दंड-पारुष्य आदि के साथ लगा दिया गया। इस काल में उसके समान अन्य अपराध भी माने गये। चोरी मुख्यतम् अपराध नहीं रही। सूत्रों एवं धर्म-शास्त्रों में दिव्य शक्तियों का महत्व नहीं रहा। धर्मसूत्रों तक वेदाध्ययन की अवहेलना पाप के साथ अपराध भी थी। स्मृतियों में वह केवल पाप रहा और उसके लिए दण्ड नहीं प्रायश्चित्त विधान किया गया। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों तक शारीरिक हानि और ज्येष्ठ बहन के रहते स्वयं विवाह करना ऐसे अपराध थे जिनमें मृत्युदण्ड दिया जा सकता था।[2] स्मृतियों ने इसे इतना महान अपराध नहीं माना।

स्मृतिकाल तक अपराध का स्वभाव और क्षेत्र स्थिर हो जाता है।[3] अपराधों के वर्गीकरण पर वर्णव्यवस्था का प्रभाव पड़ता है। अन्त्यज एवं

---

१. नारद० १।६।

२. मै० सं० ३१।७।; कपिष्ठल सं० १०।७।७।; तै० ब्रा० ३।२।८।११।

३. अपराध के पर्याय में प्रयुक्त शब्दों से इसका स्पष्टीकरण ह जाता है। अपराध के पर्याय हैं; अघ, आगस्, एनस्,पाप, पाप्मन्, अशुभ, कल्मष, पंक, मल, अधर्म, किल्विष, दोष, दुष्ट, कुमार्ग, हिंसा, अपराध, अपकार, अतिक्रम, अपचार, दुष्कृति, विकर्म, पातनीय, संकरीकरण, जातिभ्रंशकार आदि। इनमें पाप और अपराध दोनों की वृत्ति परिलक्षित होती है।

शूद्र जातियों में जन्म लेना शूकर जैसी क्षुद्र योनियों में जन्म लेने के समान था। यह पूर्व जन्म के पातक का फल माना गया। स्मृतियों ने अपना परिगणन प्रस्तुत किया। अपराध उनके गर्भ में समाविष्ट हुआ। विष्णु ने अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक आदि के रूप में परिगणन प्रस्तुत किया।[1] माता, कन्या आदि के साथ भोग अतिपातक हुआ। ब्रह्म-हत्या, सुरापान, गुरुतल्पगमन, ब्राह्मण के स्वर्ण की चोरी आदि महापातक में परिगणित हुए। क्षत्रिय और वैश्य की हत्या, ऋतुकाल में स्नान न की हुई अथवा शरण में आई हुई स्त्री के साथ भोग, मित्र हत्या, असत्य साक्षी, चाची के साथ भोग अनुपातक माने गये।

काशीप्रसाद जायसवाल महापातक की याज्ञवल्क्य द्वारा दी गई सूची[2] प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि पहले ७ महापातकों की सूची थी जैसा कि यास्क ने दिया है।[3] भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्या में मिला दी गई। सामान्य चोरी स्वर्ण चोरी में समाविष्ट हो गई (मनु० ९।२३५।, ११।५५।, ३।२५७।)। मनुष्य की हत्या ब्रह्महत्या में विलीन हुई। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व केवल ४ की सूची पायी जाती है—(१), स्तेय, (२) मनुष्य वध, (३) स्त्री संग्रहण और (४) सुरापान। आपस्तम्ब ने स्वर्ण-चोरी और ब्रह्महत्या के स्थान पर सामान्य चोरी और सामान्य वध का उल्लेख किया है। इसी प्रकार स्त्री संग्रहण में भी सामान्य परिगणन हुआ है (आपस्तम्ब २।२७।१,१६।)।[4] यद्यपि यह सत्य है कि अपराध के परिगणन पर देश, काल एवं परिस्थिति का

---

१. विष्णु ३३।४२।

२. ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।

एते महापातकिनो यश्च तैः सह न संवसेत। याज्ञ० ३।२२७।

३. निरुक्त ६।२७।

4. Manu and Yajnyavalkya P. 168

प्रभाव पड़ा तथापि जायसवाल की धारणा निर्भ्रान्त नहीं है। ब्रह्महत्या, स्वर्णचोरी आदि के अपराधों की गुरुता वेदों से ही प्रारम्भ हो गयी थी।[1]

अपराधों के परिगणन पर वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रभाव व्यक्त होते हैं। वेदों का विस्मरण, गुरु को धोखा देना, माता-पिता-पुत्र एवं अग्निहोत्र का छोड़ना, निषिद्ध पेय एवं खाद्य का व्यवहार करना, अनुचित सेवा तथा पेशा करना, परकीय सम्पत्ति का अपहरण, अवैधानिक उपहार ग्रहण करना, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और गाय की हत्या, निषिद्ध वस्तु विक्रय, ज्येष्ठ भाई के अविवाहित रहते कनिष्ठ का विवाह, आदि पर प्रत्यक्षतः सामाजिक प्रभाव नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मणों को वेद पढ़ाना, खान में काम करना, महान् यन्त्रों का निर्माण, वृक्षों को क्षति पहुँचाना, यज्ञ की उपेक्षा, वेदाध्ययन और अन्य धार्मिक कृत्यों की उपेक्षा, गन्दी पुस्तकों का पढ़ना, नास्तिकता, नृत्य का पेशा, सुरापी स्त्री से भोग का सम्बन्ध आदि सामाजिक प्रभाव व्यक्त करते हैं। कुछ अपराधों में जाति-बहिष्कार का प्रयोग किया गया है। शूद्रों की सेवा भी इन्हीं अपराधों में है। इस अवस्था में समाज कई भागों में विभक्त हो गया।

अवैदिक समाजों के साथ वैदिक अपराधों का सम्बन्ध ही नहीं था। वैदिक समाज की परम्परा के प्रति अनास्था या विद्रोह उठ चुका था। बौद्ध एवं जैन क्रान्तियों के साथ समाज के सामने एक बार पुनः अवैदिक समाज के साथ सम्बन्ध का प्रश्न आया। पश्चिमोत्तर सीमा से अभारतीय जातियों का प्रवेश हो रहा था। अतएव अपराध की सूची में वेदाध्ययन, वैदिक विधि पालन, अधिकारियों द्वारा वैदिक विधि पालन पर जोर और अनधिकारियों का बहिष्कार बड़ी दृढ़ता के साथ किया गया। नास्तिकता भी अपराध मानी गयी। नास्तिक की परिभाषा में वेद-निन्दा

१. तै० सं० २।५।१।२; ५।३।१२।१; ६।५।१०।२। कठक सं० ३१।७; तै० ब्रा० ३।२।८; तै० ब्रा० आ० १०।३८; शत० ब्राह्मण १३।३।१।१; विशेष द्रष्टव्य वेदिक इंडेक्स, जि० १ पृ० ३९१–९२।

या परलोक में अविश्वास कहा गया। इस प्रकार बौद्धों एवं जैनियों पर न्यायालयों, स्थानीय से केन्द्रिय, में गहरा प्रहार किया गया। छोटी जातियाँ बौद्ध संस्कृति से प्रभावित हो रही थीं। उनके लिए समानता का द्वार और कठोरता से बन्दकर दिया गया। बौद्ध एवं जैन संस्कृतियाँ केवल सुधारवादी ही सिद्ध हो रही थीं क्योंकि उन्होंने अपराध एवं दण्ड के सम्बन्ध में कोई व्यावहारिक संहिता नहीं प्रस्तुत की। अतएव वे वैदिक समाज से वहिष्कृत को स्थान तो दे पायीं किन्तु सामाजिक न्याय दिलाने में असमर्थ रहीं। राज्य शक्ति अपनी सप्तप्रकृतियों के साथ वैदिक ही रही, राजा में कहीं भले भाव परिवर्तन हो गया हो। इस स्थिति से लाभ उठाकर स्मृतिकारों ने अवैदिक तत्त्वों को समाज से वहिष्कृत करने का सफल प्रयास किया और अपराध की सूची पूर्ण करते समय इस पर सदा ध्यान रखा।

स्मृतियों में ऐसे समाज का चित्रण उपलब्ध होता है जिसे वाह्य सम्पर्कों से सुरक्षा की अपेक्षा थी। अपराधों की सूची और उसके विस्तार से इसका स्पष्टीकरण हो जाता है। दक्षिण के वैदिक वर्णों को समुद्र-यात्रा का विधान सूत्रकारों को अभीष्ट था। स्मृतियों ने अब सब की समुद्र यात्रा का निषेध इस रूप में किया कि उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं रहा। पेशों में भी परिवर्तन हुआ। नृत्य, संगीत आदि निषिद्ध पेशों में आ गये। स्नातक धर्म से लेकर श्राद्धों में बुलाए जाने वाले ब्राह्मणों की योग्यता और अयोग्यता निश्चित की गई और उन्हें अपराध संहिता में जोड़ दिया गया। राज्य ने वह अपराध संहिता स्वीकार कर ली। इस काल में एक नयी विशेषता सामने आती है। एक ओर तो अपराधों की सूची में विस्तार होता है और दूसरी ओर उन अपराधों के, जिनका सामाजिक संरक्षण में महत्व है, दण्ड सामान्य और सरल किये गये। सामाजिक संरक्षण में सामान्य अपराधों पर जाति बहिष्कार के दण्ड का विधान हुआ। साथ ही स्त्रियों की शुद्धि के नियम भी सरल हो गये। वे नियम इतने सरल हो गये कि कुछ स्मृतिकारों ने तो केवल ऋतुधर्म से ही स्त्री को शुद्ध करते हुए कहा कि स्त्रियाँ कभी अपवित्र

होतीं ही नहीं। जाति से बहिष्कृत व्यक्ति भी प्रायश्चित्त से प्रत्यावर्त्तित हो सकते थे। इस प्रकार अपराध सूची में एक ओर भय और दूसरी ओर संग्रह की भी वृत्ति परिलक्षित होती है।[1] फलतः इस युग में अपराध का सामाजिक धार्मिक एवं वैयक्तिक रूप सामने आ जाता है जिसका सूत्रपात वेदों से प्रारम्भ होता है। वैदिक युग से स्मृतिकाल तक अपराध के स्वरूप में विशाल परिवर्तन हुआ। उस पर प्रभाव डालने वाले सामाजिक एवं आर्थिक तत्त्व सदा क्रियाशील रहे। उनके समावेश से ही भारतीय समाज आगे बढ़ता रहा।

अपराध विधि (Law of Crime) या क्षति (Torts)

संहिताओं तक 'वैरदेय' का व्यवहार पाया जाता है। व्यक्ति की हत्या में उसके सम्बन्धियों को क्षतिपूर्ति के रूप में रुपया दे दिया जाता। आपस्तम्ब एवं बौधायन दोनों ने क्षत्रिय हत्या में १००० गाय, वैश्य हत्या में १०० गाय और शूद्र हत्या में १० गाय क्षतिपूर्ति रूप में देने का विधान दिया है।[2] इनके साथ एक बैल भी देना पड़ता। गायें सम्बन्धियों और बैल राजा को दिया जाता। इनमें ब्राह्मण के वध पर मृत्यु दण्ड होता उसे प्रतिफल से नहीं सुलझाया जा सकता था।[3] क्षतिपूर्ति के इस प्रकार के अन्य प्रमाणों के आधार पर मेन जैसे विद्वानों ने यह आरोप किया है कि भारत में अपराध संहिता थी ही नहीं। वह केवल क्षतिपूर्ति ही थी।[4] इस प्रकार का भ्रम मेन के पाप, अपराध और अपराध की पृष्ठभूमि में भेद न करने से हुआ।[5] धर्मसूत्रों के बाद अपराध संहिता का विकास स्वतन्त्ररूप में हो जाता है।

क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने की हैं। राज्य का इसमें कोई अंश नहीं रहता और पीड़ित की सहायता औषध आदि से कर दी

---

१. याज्ञ० ३।३००।; मनु० २।१९७।;वशिष्ठ १५।१८।; याज्ञ० ३।२९६।
२. आपस्तम्ब० १।९।२४।१-४।; बौधा० १।१०।१९।१, २।
३. आपस्तम्ब० १।९।२४।७।; बौधा० १।१०।१८।१।
4. Maine : Ancient Law, Ch. 10 P. 307.
5. P. N. Sen : Hindu Jurisprudence. P. 335.

जाती। इसके विकल्प में जुर्माना दिया जाता जिसे प्रतिफल या क्षति नहीं कह सकते।[१] दण्ड का उद्देश्य क्षतिपूर्ति नहीं अपराधी को दण्ड देना और अपराध की निवृत्ति था। इसमें राज्य स्वयं पक्ष न होकर न्याय के लिए वातावरण प्रस्तुत करता और उचित निर्णय की व्यवस्था करता। अज्ञात मृत्यु तथा ऐसे अन्य अपराधों का अन्वेषण करना राज्य का उत्तरदायित्व अवश्य था। इस अंश में राज्य ही नहीं समाज के किसी सदस्य को विवाद प्रस्तुत करने का अधिकार था।[२] इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी राज्य या राज-कर्मचारी को विवाद प्रस्तुत करने का अधिकार नहीं दिया गया। अपराधी को यदि क्षमा करना चाहें तो वह अपराध मुक्त नहीं माना जाता क्योंकि अपराध का सम्बन्ध समाज और राज्य से है व्यक्ति-विशेष की मनोवृत्ति से नहीं।

सामान्यतया राज्य वध या अन्य वैसे अपराधों में पक्ष ग्रहण करता था। राज्य को पीड़ित पक्ष से सूचना मिलने पर ही कार्यवाही करनी पड़ती। पीड़ित पक्ष यदि छिपाना चाहे तो कठिनाई उपस्थित हो जाती। इस स्थिति में समाज के किसी भी सदस्य को अधिकार था कि राज्य को सूचना दे। यदि पीड़ित अपने कुल की मर्यादा की रक्षा की दृष्टि से अपराध को अन्यथा रूप देकर छिपाना चाहता तो उसे भी दण्ड दिया जाता।[3] वध, स्तेय, स्त्री संग्रहणादि अपराधों की छानबीन के लिए समाज और राज्य का उत्तरदायित्व था। जिस राज्य में उक्त अपराधों का अभाव हो वही उत्तम राज्य कहा गया है।[४] अपराध के सम्बन्ध में व्यक्ति, समाज एवं राज्य के सम्बन्ध देखते हुए कहा जा सकता है कि भारत में अपराध-संहिता का विकास अत्यन्त पूर्वकाल से ही हो चुका था।

---

१. मनु० ८।२८७। ; बौ० ३।१९।१९५। ; याज्ञ० २।२२२। ; बृ० २१।१०।

२. मृच्छकटिक ९ अंक ९।

३. याज्ञ० २।३०१।

४. मनु० ८।३८६-३८७। ; विष्णु० ५।१९६।

विधीय दायित्व

अपराध का दायित्व अवैधानिक व्यवहार और अपराधी के मस्तिष्क दोनों पर है। केवल अज्ञान (Ignorance) अथवा वृत्ति (Motive) के आधार पर मुक्ति नहीं हो सकती।[१] चोरी, बलात्कार, डाका आदि अज्ञानावस्था में नहीं हो सकते।[२] लेकिन न चाह कर हत्या जैसे अपराध हो जाते हैं। कभी-कभी एक के मारने के प्रयास में दूसरे की हत्या हो जाती है। इंग्लैंड की विधि इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं करती किन्तु कहीं-कहीं भेद होता है।[3] इन आधारों पर अपराध के दायित्व स्थिर करने में सिद्धान्त एवं व्यवहार में कठिनाई होती है। वस्तुतः क्रिया अपराध का माप-दण्ड नहीं है। क्रिया के साथ प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। लेकिन लापर-वाही को ज्ञानपूर्वक अपराध के समान ही स्थान देना पड़ता है। ऐसे अपराध, जिनमें प्रवृत्ति और लापरवाही न हो, क्षमा एवं मुक्ति के योग्य होते हैं।[४]

भारतीय दण्ड विधान में इस बात पर ध्यान दिया गया है। शूद्र को वाक्पारुष्य और वेद-श्रवण पर दण्ड देते समय इस बात का विचार करना पड़ता है कि उसने जानकर अपराध किया है या अनजाने में।[५] किन्तु समाज की मान्यताओं को ध्वस्त करने वाले महापातकों के लिए ज्ञात अज्ञात दोनों स्थिति में दण्ड विधान किया गया है।[६] उनमें समाज के सामने व्यक्ति हित का बलिदान ही श्रेयस्कर समझा गया। इतना अवश्य है कि

1. Journal of Criminal law (1935) PP. 82, 236.
2. Turner : Cambridge law Journal, 1936.
3. Kenny : Criminal law (1936) P. 135,
   Washington University law Quarterly (1939) P. 305.
4. Salmond : Jurisprudence, Ch. 17 Sect. 12 P. 378.

५. गौतम० १२।१ और ४।

६. मनु० ८।२९०–९२।

यदि अज्ञात अवस्था में (अकामतः) अपराध किया गया है तो उसमें कम दण्ड दिया जाता और ज्ञात अवस्था में (कामतः) किये गये अपराध में अधिक दण्ड का विधान किया गया। कम शिक्षित चालक रथ अनुचित ढंग से चलाने लगे तो कम और यदि कुशल चालक से ऐसा हो तो अधिक दण्ड दिया जाता ।[1] शूद्र जानकर स्पर्श करता तो अधिक और अज्ञातावस्था में स्पर्श करता तो कम दण्ड दिया जाता। पशुओं के द्वारा क्षति होने पर पशुपालक के ज्ञात-अज्ञात भाव को ध्यान में रख कर ही दण्ड दिया जाता ।[2] स्वयं या पशुओं द्वारा किये या कराये गये अपराध में जानकारी और गैर जानकारी के आधार पर अपराध में भेद बृहस्पति भी मानते हैं ।[3]

अपराधी को जानकर भी सहायता देने पर अपराधी के समान ही अपराध माना जाता है ।[4] मनु ने जानकारी (ज्ञान) नहीं कहा किन्तु कुल्लूक भट्ट ने टीका में 'चौरंज्ञात्वा' व्याख्या की है। चोर को चोर नहीं जानते और उसकी सहायता करते हैं तो अपराध नहीं है। याज्ञवल्क्य और कौटल्य ने स्पष्टरूप में इस पर अपना मत व्यक्त किया है। अनजान में दी गयी सहायता के लिए व्यक्ति पूर्णतया निरपराध नहीं माना जाता। लापरवाही के लिए उसे वाक्दण्ड दिया जाता। विशेष अपराध में २०० पण अज्ञान में किये अपराध पर दण्ड होता था और अनवधानता में करने पर १०० पण। चोरी के लिए दण्ड देते समय इस बात पर भी ध्यान दिया जाता कि क्या व्यक्ति ने वस्तु को कम मूल्य पर, एकान्त, रात्रि, चुपके से बेईमान व्यक्ति द्वारा अज्ञात स्वामी वाले दास, 'राजदण्ड भुक्त व्यक्ति' से खरीदा है? यदि उसने ऐसा किया है तो क्रेता को भी चोर जैसा ही

---

१. मनु० ९।२४२।
२. मनु० ८।२९३।; कौ० ४।१३।२३३।; याज्ञ० २।२९८।
३. विष्णु० ५।१०४।
४. मनु० ९।२७१। और २७८।; याज्ञ० २।७६।; कौटल्य ४।११।२२७।; मनु० ८।१२१। और ८।२६४।

दण्ड दिया जाता। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति ने वस्तु चोरी की ही जान कर खरीदी है। चोरी की वस्तु चोरी की न जान कर उचित मूल्य पर उचित व्यक्ति और स्थान से खरीदने पर क्रेता को दण्ड नहीं दिया जाता। इस प्रकार स्पष्ट है कि विधीय उत्तरदायित्व में व्यक्ति, उसकी मनःस्थिति, क्षमता, स्वभाव एवं सामाजिक स्तर के आधार पर अपराधका निर्णय किया जाता था। घटित तथ्य को केवल घटना और उसके लिए 'पुस्तकबद्ध' विधि का ही आश्रयण नहीं लिया जाता था। अतएव अपराध संहिता में विवेक और बुद्धि का प्रयोग हो चुका था।

अपराध के कारण

स्ट्राहॉर्न (Strahorn) अपराधों के मूल तत्त्वों को तीन भागों में विभक्त करता है। इनमें (१) सामाजिक क्षतिमूलक घटनाओं, (२) अपराधी का चरित्र जिससे सामाजिक क्षति सम्भव होती है और (३) मनःस्थिति जिससे अपराधी की मूल प्रवृत्ति संचालित होती है, का परिगणन किया जाता है। अपराध एवं उनके मूल किसी शाश्वत आधार की अपेक्षा सामाजिक दर्शन पर आधारित किये जाते रहे हैं। साम्यवादी रूस में अपराध केवल दो भागों में विभक्त किया गया। प्रथम में वे अपराध आते हैं जो राज्य को किसी न किसी रूप में चुनौती देते हैं। द्वितीय में वे बुर्जुआ (Bourgioes) प्रवृत्ति का परिगणन करते हैं। द्वितीय प्रवृत्ति का दमन ही वहाँ लक्ष्य माना जाता है। ऐसे विवेचनों में अपराध के कारणों पर भी प्रकाश पड़ता है। कारणों को जिस रूप में देखा गया, अपराधों के उन्मूलन का प्रयास भी किया गया। साम्यवादी दर्शन का प्रभाव अपराध के विश्लेषण पर प्रत्यक्ष है। जनतन्त्रवादी विचारधारा ने अपराधों के कारणों पर अपने प्रकार से विचार किया है। इनके अतिरिक्त दार्शनिकों ने स्वतन्त्र रूप से भी अपराध के कारणों पर प्रकाश डाला है।

लैम्ब्रासो (Lambraso) अपराध का कारण कुछ शारीरिक विशेषताएँ मानते हैं। वे अपराधियों की शारीरिक परीक्षा से इस निष्कर्ष पर

आते हैं कि अपराधियों की कुछ शारीरिक विशेषताओं से अपराध में परिवर्तन होता रहता है। डॉक्टर गोरिंग ने इंग्लैंड और स्कॉटलैण्ड के अपराधियों की शारीरिक विशेषताओं में भिन्नता से उत्पन्न होने वाले अपराधों की सापेक्ष तुलना भी की है। नवीनतम् कार्य हूटन (Hooton) का है।[१] उसने अपने साथियों के साथ १७,००० अमेरिकी अपराधियों का सर्वेक्षण किया। उनका निष्कर्ष लैम्ब्रॉसो का समर्थन नहीं करता। यद्यपि यह सत्य है कि शारीरिक निर्बलता और आंगिक संस्थापना (Organic adoptability) के अभाव में अपराध होते हैं तथापि अपराध में शारीरिक के साथ सामाजिक कारण अवश्य रहते हैं। व्यक्तिगत रूप में शारीरिक विशेषताओं का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि चरित्र निर्माण में शारीरिक कारण अत्यधिक क्रियाशील रहते हैं। इस रूप में जेल की अपेक्षा औषधालय अपराधी के लिए उचित स्थान हो सकते हैं।

युद्ध के पूर्व मानसिक दुर्बलता को अपराध का कारण माना जाता रहा। उनके अनुसार सामान्य जनसंख्या और अपराधी वर्ग में मानसिक भिन्नता हाती है। लेकिन आधुनिकतम् शोधों ने यह सिद्ध किया कि अपराधी वर्ग सामान्य जनसंख्या में ८० प्रतिशत मानसिक समानता है।[२] उच्च मानसिक क्षमता के लोग अपराध न करें यह सिद्धान्त तथ्यपूर्ण नहीं है। मानसिक अन्तर्विरोध, निराशा आदि अपराध की ओर उन्हें भी प्रवृत्त करते हैं। इस प्रकार आसामान्य मानसिक क्षमता वाले व्यक्तियों तथा अन्य

---

1. Jerome Hall: Theft, law and sociey, 1935.
   G.L. Ferio: Criminal Man, 1911.
   Dr. Goring: The English Convict; London (1913).
   Hooton: The American Criminal.
   Crime and man.
2. Gault: Criminology :123.
   East and Hurbert : The psychological Treatment of Crime. H. M. Stationary office 1939 P. 7.

में भी कुछ ऐसे अपराध हैं, जिनके लिये वैधानिक दण्ड की अपेक्षा मानसिक चिकित्सा अपेक्षित है। समाज में ऐसे अपराधियों की समुचित व्यवस्था होनी आवश्यक है।[१] लेकिन इसमें सबसे बड़ी व्यावहारिक समस्या ऐसे अपराधों के उपचार की पद्धति का अन्वेषण करना है। नये तथ्यों से यह भी सिद्ध होता है कि इच्छा (Will) पूर्ण स्वतंत्रत है। उसे प्रभावित करने में निर्देशन एवं वातावरण का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके आधार पर उसे अपराध में प्रवृत्त होना पड़ सकता है। विधि जिस रूप में विवेकी और झक्की के बीच एक सीधी रेखा बनाती है, मनोविज्ञान उसे नहीं मनता। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जिनमें सामान्य दण्ड से न तो समाज की सुरक्षा हो सकती है और न अपराधी का सुधार।[२]

अपराधी के विषय में यह जानना आवश्यक है कि वह जो कुछ कर रहा है, उसे उसका ज्ञान है या नहीं। अपराध का ज्ञान होते हुए उसमें से अपराधी की भावना जितनी मात्रा में क्रियाशील हो दण्ड भी उसी अनुपात में होना चाहिए। अब भावना की अप्रतिहतगति (Irresistable Impulse) को अपराध के साथ पहले की तरह सम्बद्ध नहीं करते। आँकड़ों से ज्ञात होता है कि हत्या के अपराध में गिरफ्तार ५० व्यक्तियों में १० ही ने अज्ञातावस्था में अपराध किया था।[३] अधिकतम् अपराधी अपराध जानते थे। झक्की सिद्धान्त की अपूर्णता इसमें भी है कि वह मानवीय मस्तिष्क को ज्ञात और अज्ञात दो भागों में विभक्त कर देता है।

निर्धनता और अपराध के सम्बन्धित आँकड़े पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। निर्धनता से उत्पन्न क्रोध अपराध में अधिक प्रवृत्त होता है। कोटिपति, यदि स्वस्थ चित्त है, कभी १०० रुपया नहीं चुराएगा। दूसरी ओर क्षुधित व्यक्ति ऐसा अपराध कर सकता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं

---

1. East and Hurbert: Mental Abnormality and Crime.
2. Dr. Carroll: Medico-lega land Criminological Review, 1940 P.182.
3. Home office Criminal Statics, 1938.

कि सम्पत्तिवान् से अपराध की सम्भावना नहीं। सम्पत्ति की चोरी की भी भावना उसमें होगी, किन्तु सामान्यतया वह मात्रात्मक भेद रखती है। आधुनिक शोध रहन-सहन के भौतिक और बौद्धिक दोनों स्तरों को अपराध के साथ सम्बद्ध करता है। निर्धनता को अपराध का मूल कारण न मानते हुए भी कुछ आँकड़े इस रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं कि निर्धनता का प्रभाव अनुपात में अधिक है।[१] किसी-न-किसी रूप में आर्थिक कारणों का प्रभाव विद्यमान रहता है।

अपराध किसी भी एक कारण से नहीं चरित्र पर आधारित होता है। किन्तु चरित्र क्या है ? क्या वह वंशानुगत और वातावरण से समान रूप में प्रभावित रहता है ? विकास सिद्धान्त का स्पष्टीकरण वंशानुगत से होते हुए भी चरित्र निर्माण में देखा जाता है कि सन्तान पिता से विशेष और भिन्न क्षमता सम्पन्न हो जाती है। शरीर एवं मनोविज्ञान (Biology and psychology) दोनों उत्तराधिकृत रूप में चरित्र निर्माण के कारण होते हैं।[२] वंशानुगत क्षमताओं को वातावरण का रूप देता है। कौटुम्बिक वातावरण में भी अपराध पर प्रभाव डालने वाले तत्त्व क्रियाशील रहते हैं। व्यापक रूप में सामाजिक तत्त्व अपराधों के कारण बनते हैं। वे स्वयं पैतृक क्षमता, मनोभाव और व्यवहार को प्रभावित करते हैं जिनसे वंशानुगतता का सिद्धान्त प्रारम्भ होता है। निर्धनता पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को दूषित कर देती है। परस्पर ईर्ष्या द्वेष एवं घृणा आदि वृत्तियों का विस्तार कर देती है। फलतः सामाजिक सदस्यों के परस्पर अपराध से सम्बद्ध सम्बन्धों का विकास होने लगता है। इस प्रकार अपराध के विभिन्न कारण हैं जिनसे चरित्र का निर्माण होता है।

---

१. १९३८ के एक आँकड़े में ७४, ४६३ में सम्पत्ति की चोरी के अपराधी केवल २५८४ थे। एक ऐसे अन्य आँकड़े में ५६०९२ में १०८१४ सेंध, ताला तोड़ने और मकान में कूदने और २७८९ जालसाजी के अपराधी थे।

2. Large : Crime as Destiny : Translated by Chorlotte. London, (1931)

इस प्रकार अपराध के कारणों की मीमांसा करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वह अन्तर की जन्मजात वृत्ति नहीं वाह्य वातावरण सापेक्ष है। साथ ही उस पर वंशानुगत प्रभाव अवश्य क्रियाशील होता है। भारतीय परम्परा में अपराध के विकास के साथ हमने देखा कि वशिष्ठ ने वरुण को इस प्रकार का ही उपदेश दिया। उसमें उन्होंने समाज और व्यक्ति दोनों को कारण माना है। व्यक्ति के साथ वातावरण और आनुवंशिकता का प्रभाव स्वीकार किया गया है। इन दो तत्त्वों के आधार पर आगे चलकर वर्णव्यवस्था की पृष्ठभूमि में अपराध की विवेचना दूसरा रूप धारण कर लेती और उसे सामाजिक विशेष माना जाने लगता है। इसीलिए दण्ड की विवेचना में सामाजिक तत्त्वों का विशेष स्पष्टीकरण होता है। वातावरण में सामाजिक स्थिति का दूसरा रूप भी स्वीकार किया गया जिसमें शिक्षा, संस्कार, संगति के साथ आर्थिक कारणों को इतना महत्त्व दिया गया कि बुभुक्षित कौन-सा पाप नहीं कर सकता। आपद्धर्म की स्थिति में कितने ही अपराध वैध मान लिये जाते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें व्यक्ति अपराध करने के लिए बाध्य हो जाता है। यदि उन्हें आपद्धर्म न माना जाय तो सामाजिक क्रान्ति हो जाय। अतएव भारतीयों ने अपराध और उससे कारणों के सभी पक्षों पर विचार किया है। इसकी पृष्ठ-भूमि अपराध के विकास में स्पष्ट होती है। इसका विशेष स्पष्टीकरण अपराधों के प्रकार-विवेचन में हो जाता है।

अपराधों के प्रकार

प्रारम्भिक समाजों में सदाचार (Custom) एवं धर्म का उल्लंघन लौकिक तथा पारलौकिक अपराध था। उसके साथ ही प्राकृतिक प्रतिशोध का विकास हो रहा था। आहत, वध आदि, यदि जानकारी में किये गये हैं, का दण्ड समानरूप से पाया जाता है।[1] आत्मरक्षा में वध का भी अपराध दण्ड के योग्य

1. Westermarck: Vol. I, 217.
Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. II, 214.

माना जाता किन्तु हत्या के समान नहीं। सुविचारित अपराध और आवेश में किये गये अपराध में भेद किया जा रहा था। कुछ कबीलों में यह नियम था कि अपने कबीले के सदस्य की हत्या या चोरी अपराध था किन्तु अन्य कबीले के सदस्य के साथ यही कार्य अपराध नहीं माना जाता था। कहीं-कहीं तो इसे गुण माना जाता था। नैतिकता के विकास के साथ यह धारणा लुप्त हो गयी है। उस काल में भी आयु और लिंग के आधार पर अपराधों में भेद माना जाता था। प्रधानों द्वारा हुए अपराध का दण्ड साधारण था। उनके विरुद्ध वे ही अपराधी कठोर दण्ड के भागी हो जाते। व्यक्ति के स्तर से अपराध और दण्ड के स्तर में भेद हो जाता। सभ्य समाजों में भी इस धारणा का विस्तार होता गया। प्रथम बार किए हुए अपराध और उसकी पुनरावृत्ति में भेद किया गया। प्रथम बार किए अपराध का सामान्य दण्ड था किन्तु आवृत्ति मूलक अपराधों के दण्ड कठोर थे। कहीं-कहीं इस अवस्था में देश निष्कासन या मृत्यु दण्ड तक दिया जाता।[1]

भारतीय न्यायपालिका में उक्त सिद्धान्त क्रियाशील होते हैं। इनका बीजारोपण वैदिक काल से हो जाता है। धर्मसूत्रों एवं उनके उत्तरवर्ती काल तक इनका स्पष्टीकरण होता है। वेदों एवं धर्मसूत्रों में विकसित होने वाले महापातकों को धर्मसूत्रों में स्वीकार किया गया। उनमें दण्डपारुष्य, वाक्पारुष्य, स्त्री संग्रहण आदि परिगणन के प्रकार स्वीकार किये गये। लेकिन उन्हें नये रूप में परिगणित किया गया। इनके अतिरिक्त अपराधों की विशाल सूची प्रस्तुत की गई। उनका विभाग अन्य अपराधों में करना उपयुक्त समझ कर हम अपराधों का समाहार कर देना आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार के प्रकारों को प्रस्तुत करने के पूर्व इन प्रकारों के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है।

---

1. Petroff. Tenth Census of U. S. A.; Washington, 1882 P. 152.
   Decle : Three years in Savages, Africa. 1898 P. 487.

वैदिक काल

वैदिक काल में क्षतिपूर्ति 'वैरदेय' के रूप में व्यक्त की गयी है। ऋग्वेद में केवल एक स्थान पर दो व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े का उदाहरण मिलता है जो धन देकर शान्त किया जाता है।[१] धन के लिए ऋग्वेद में नृम्नम्, क्षत्रम्, रधस्, ब्रह्म और वृत्रम् शब्द का प्रयोग किया गया है।[२] नृम्नम् उस धन को कहते हैं जिससे शत्रु मित्र बनाया जा सके। क्षत्रम् उस धन के लिए कहा गया है जिससे व्यक्ति अवैधानिक कार्य से मुक्त हो सके। रधस् से वैधानिक कार्य होता है। ब्रह्म से धर्म की वृद्धि की जाती है। वृत्रम् से राजदण्ड से मुक्ति होती है। धन के इस विभाजन से ज्ञात होता है कि जुर्माना का बीजारोपण हो रहा था और वैरदेय से राज्य का सम्बन्ध हो चुका था। इस काल में चोर को राजा के सामने ले आने का भी उदाहरण मिलता है। लेकिन अपराध के स्वरूप का विशेष स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। आंगिक दोष (गन्दे दाँत, नाखून आदि), ज्येष्ठ अविवाहित बहन के रहते स्वयं विवाह कर लेना, दोनों मृत्यु दण्ड के उपयुक्त अपराध थे। भ्रूण-हत्या और नर-हत्या समान थी। सर्वाधिक गर्हित अपराध ब्राह्मण की हत्या थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण ब्राह्मण-हत्या को ही वास्तविक हत्या मानता है।[३] धन सम्बन्धी अपराध पर भी विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। ऋण आदि के अपराध थे और उनमें ऋण न लौटाने पर दासता के भी प्रमाण मिलते हैं।[४]

धर्मसूत्रों का काल

धर्मसूत्रों में अपराधों का स्पष्ट वर्गीकरण हो जाता है। जिन अपराधों का वर्गीकरण नहीं हो पाया उनका सूत्रपात अवश्य हो गया। इस वर्गीकरण पर उस काल का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। गौतम संहिता में पतित के

---

१. ऋ० ६।२५।४-६।

२. ऋ० ५।७९।१।

3. Vedic Index. Vol. I PP. 390-397.

४. वही, जिल्द० १ पृ० १०९।

कारण दिये गये हैं। उनके अनुसार पतित होने के कारण हैं—यजन के अयोग्य का यजन, न भक्षण योग्य का भक्षण, अनुचित वाणी का प्रयोग, शिष्ट क्रिया का उल्लंघन और निषिद्ध वस्तु का सेवन करना।[1] आगे के अध्याय की सूची और अधिक स्पष्ट है। पिता का भी त्याग करना चाहिए यदि वह राजघातक, शूद्र के लिए यज्ञ कराने वाला, अपनी ओर से शूद्र के लिए यज्ञ करने वाला, वेद के प्रति विप्लवी, गर्भपाती, नीच वर्ण एवं नीच वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करनेवाला है, तो त्याग हो सकता है।[2] अपराध की इस सूची पर राज्य, वेद और वर्ण का प्रभाव स्पष्ट होता है। आगे की सूची में नास्तिक को ब्रह्म हत्यारे, सुरा पीने वाले, गुरु की स्त्री एवं माता पिता के सम्बन्धी के साथ भोग करने वाले के साथ रखा गया।[3] अन्यत्र हीन-वर्ण की सेवा को भ्रूण-हत्या के समान अपराध माना गया।[4] इस काल तक न्यायिक प्रक्रिया का सूत्रपात हो जाता है। असत्य साक्षी, राज्यद्रोही, चुगुल और गुरु से असत्य भाषण महापातक के समान माने गये।[5] इन अपराधों में व्यक्ति नागरिकता के अयोग्य समझ लिया जाता है।

धर्मसूत्रों में स्थिर अपराधों की सूची का विस्तार स्मृतियों एवं परवर्त्ती साहित्य में होता है। इस अवसर पर अपराध की विशेष व्याख्या होती है। अपराधों के इस वर्गीकरण पर भी देश एवं काल का प्रभाव अभिव्यक्त होता है। इस काल के वर्गीकरण में अपराधों की इतनी व्यापक सूची प्रस्तुत होती

---

१. अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते यथैतद् अयज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनम्। गौ० सं० ३।१।२।

२. त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं भ्रूणहतं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा। गौ० सं० ३।२।१।

३. गौ० सं० ३।३।१-३।

४. गौ० सं० ३।३।९।

५. कौटसाक्ष्यं राजगामिपैशुनं गुरोरनृताभिशंसनं महापातकसमानि। गौ० सं० ३।३।१०।

है कि उन्हें एक स्थान पर एकत्र करना अधिक विस्तार की अपेक्षा करता है। अतएव मुख्य-मुख्य अपराधों की ही चर्चा करना सम्भव है।

धर्मसूत्रोत्तर काल

इस काल में बौद्ध क्रान्ति का प्रभाव दण्ड एवं अपराध पर प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त होता है। मनु, याज्ञवल्क्य एवं कौटल्य के विचार उनकी पृष्ठभूमि में स्पष्ट होते हैं। मनु के विधान में धार्मिक प्रतिक्रिया का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यक्त होता है। याज्ञवल्क्य ने इस समस्या के प्रभाव को अवश्य स्वीकार किया किन्तु किसी विवाद में न पड़कर उन्होंने समस्या का समाधान प्राचीन विधान की आधारशिला पर किया। फलतः मनु की अपेक्षा उनमें एवं कौटल्य में वर्गवादी या जातीय तत्त्व अधिक क्रियाशील नहीं होते। बौद्ध परम्परा में अश्वघोष ने जातीय तत्त्वों पर आधारित न्यायव्यवस्था पर आक्रमण किया था किन्तु उनमें और याज्ञवल्क्य में भेद यह है कि याज्ञवल्क्य उपदेशक एवं वैदिक परम्परा विरोधी होने के स्थान पर विधायक और वैदिकपरम्परावादी थे। अतएव उनके विचारों का महत्त्व वैदिक समाज पर अधिक व्यापक रूप में पड़ा।

दंडापराध विधि के सम्बन्ध में मनु, याज्ञवल्क्य और कौटल्य के विचार धर्मसूत्रों एवं बौद्ध क्रान्ति के उपरान्त होने वाले परिवर्तन और परिणाम स्पष्ट करते हैं। वाक्पारुष्य (Defamation) के दण्ड-विधान में मनु ने जातीय तत्त्व पर निर्णय किया है जब कि याज्ञवल्क्य एवं कौटल्य ने सामान्य मानवीय आधार पर।[1] मनु ने यह आधार स्वीकार किया किन्तु श्रुत,

---

१. शतं ब्राह्मणमाक्रुष्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ मनु० ८।२६७।
सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनांगेंद्रियरोगिणाम्।
क्षेपं करोति चेद्दण्डा पणानर्धत्रयोदश ॥ याज्ञ० २।२०४।
शारीरप्रकृतिश्रुतवृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखंजादिभिः सत्ये त्रिपणो दण्डः। मिथ्यापवादे षट्पणो दण्डः। शोभनाक्षिदन्त इति काणखञ्जादीनां स्तुतिनिन्दायां द्वादशपणो दण्डः। कुष्ठोन्मादक्लैब्यादिभिः कुत्सायां वा। अर्थ-शास्त्र. अध्याय ७५ पृ० १९३।

देश, क्रम एवं शरीर (Personal) के साथ जाति भी जोड़ दिया।[१] कुत्सा (Contemptuous Language) में भी उसी प्रकार का भेद स्पष्ट होता है।[२] हीन, अनुलोम एवं प्रतिलोम के सम्बन्ध में तीनों विचारक अधिक सन्निकट हैं।[३] भेद यह है कि धर्मोपदेशक शूद्र के प्रति मनु सर्वाधिक उग्र हैं। ब्राह्मण की समानता करने वाले एवं बौद्ध धर्मावलम्बी बौद्ध शूद्रों को उग्रतम दण्ड मनु को अभिमत रहा है। याज्ञवल्क्य और कौटल्य इस प्रभाव से अधिक प्रभावित नहीं हैं। वे कुत्सा में जाति को महत्त्व वहीं देते हैं जहां राज्य की कुत्सा की गई हो। अपशब्दों के प्रयोग में मनु ने ब्राह्मण, नृप एवं देवता को प्राथमिकता दी है और कौटल्य ने राष्ट्र एवं राष्ट्रीय संगठन को।[४] मनु के सामने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, राजा के दैवी स्वत्व की स्थापना और देवशक्ति की प्रतिष्ठा के माध्यम से बौद्ध शक्ति को पराभूत एवं समाज से अस्तित्वहीन करना था। कौटल्य अर्थशास्त्र की परम्परा से आते हैं और उनके सामने मुख्य प्रश्न राष्ट्र के एकीकरण का था।

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कौटल्य दंडापराधविधि में जातीय तत्त्व स्वीकार ही नहीं करते। दण्डपारुष्य के सन्दर्भ में कौटल्य ने भी स्वीकार किया है कि शूद्र जिस अंग से ब्राह्मण पर आघात करे उसका वह अंग काट देना चाहिए।[५] शामशास्त्री ने इस अंश को अर्थशास्त्र में

---

१. श्रुतं देशञ्च जातिञ्च कर्म शारीरमेव च। मनु० ८।२७३-२७४।
२. मनु० ८।२७५।; याज्ञवल्क्य २।२०५।२०६।; बृ० १९३।
३. मनु० ८।२६७-२७७।; याज्ञवल्क्य २।२०७।; अर्थशास्त्र पृ० १०४।
४. त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः।
मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः॥ मनु० ८।३१२-३१३।
स्वदेशग्रामयोः पूर्वमध्यमं जातिसंघयोः।
आक्रोशाद्देशचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति॥ अर्थशास्त्र पृ० १९४।
५. शूद्रो येनांगेन ब्राह्मणमभिहन्यात्तदस्य छेदयेत्।। अर्थशास्त्र ७५ पृ० १९४।

प्रक्षिप्त माना है। उनके अनुसार याज्ञवल्क्य ने इस अंश को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने जाति के स्थान पर अब्राह्मण शब्द दिया है।[1] जायसवाल ने शामशास्त्री के निष्कर्ष का समग्ररूप तो नहीं स्वीकार किया किन्तु कौटल्य को अपनी पूर्ववर्ती परम्परा का संशोधक अवश्य माना है।[2] किन्तु वैदिक धर्म विरोधी शूद्रों एवं आजीवकों के प्रति याज्ञवल्क्य और कौटल्य भी मनु एवं पूर्व परम्परा का ही समर्थन करते हैं।[3] तात्पर्य यह है कि अवैदिक समाज के अपराध के प्रति सभी विचारक एक पृष्ठभूमि पर स्थिर होकर विचार करते हैं।

वैदिक काल से स्मृतिकाल तक के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि अपराधों के कारणों के सार्वभौम अध्ययन पर बल दिया गया। उस काल में जितनी सामग्री उपलब्ध हुई उसका समुचित प्रयोग किया गया। कारणों के मूल में जाने से अपराध शास्त्रियों ने वैयक्तिक एवं सामाजिक उभय पक्षों पर ध्यान दिया। लेकिन उस काल में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्वयं सामाजिक शक्तियों का अंग बना दिया गया था। व्यक्तित्व की सीमा समाज और उसकी विधि में सन्निविष्ट थी। समाज पर पड़ने वाले प्रभाव अपराध, उसके स्वरूप एवं कारणों का आधार प्रस्तुत करते रहे। इन प्रभावों का विभिन्न कालों में विभिन्न हेतुओं से प्रयोग किया गया। व्यक्ति के व्यक्तित्व के आन्तर-बाह्य उभय पक्षों की दार्शनिक मीमांसा उपलब्ध होती है किन्तु विशेष बल वातावरण पर दिया गया। वातावरण का

---

१. विषपीडाकरं छेद्यमंगमब्राह्मणस्य तु। याज्ञवल्क्य० २।२२१।
२. काशी प्रसाद जायसवाल। मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० १५।
३. जिह्वाछेदनं शूद्रस्यार्यधार्मिकमाक्रोशतः। आपस्तम्ब० २।१०।२७।१४। शूद्रस्य ब्राह्मणवादितो देवद्रव्यमवस्तृणतोराजदिष्टमादिशतो द्विनेत्रभेदिनश्च योगाञ्जनेनान्धत्वमष्टशते वा दण्डः। अर्थशास्त्र० ८७। पृ० २२५। आजीवकादीन् वृषलप्रजितान् देवपितृकार्येषु भोजयतः शत्योदण्डः। अर्थशास्त्र ७७ पृ० १९९।; याज्ञवल्क्य० २।२३५।

विशेष उत्तरदायित्व समाज पर है। समाज में परिवर्तनकारी तत्त्वों के प्रभाव की कथमपि अवहेलना नहीं की जा सकी। वैदिक काल से भारतीय समाज वर्गीय होता गया। वर्गीय व्यवस्था समाज-विकास, वाह्य आक्रमण, जातीय मिश्रण एवं अन्तःक्रान्तियों से विकसित होती रही। इसका परिणाम यह हुआ कि उसका प्रभाव अपराध निर्धारण पर गम्भीर रूप से पड़ा इसे हमने अभी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा। स्पष्ट है कि अपराधों के कारणों पर सामाजिक शक्तियों का प्रभाव भारतीय विचारकों ने मूल रूप से स्वीकार किया। उनके आधार पर ही अपराधों के स्तर में भी अन्तर हुआ। एक ही क्रिया को विभिन्न अपराधों के रूप में देखा गया। ब्राह्मण द्वारा घटित क्रिया का अपराध वही नहीं हुआ जो शूद्र द्वारा घटित क्रिया का अपराध माना गया। इस प्रकार की अपराध सम्बन्धी विषमता या आधार व्यक्ति का 'आन्तर-व्यक्तित्व' नहीं वाह्य वातावरण है जिसका निर्धारण समाज करता रहा है। फलतः अपराधों के विकास क्रम में अपराधों का निर्धारण सामाजिक शक्तियाँ करती रही।

★

अध्याय ४

अपराधों का वर्गीकरण

अपराधों के ऐतिहासिक विकास से हम स्पष्ट देखते हैं कि उनका सूत्र-पात वैदिक काल से ही हो चुका था। यह सत्य है कि उत्तरवर्ती काल में अपराध और पाप अलग करना कठिन हो गया था; किन्तु वैदिक काल से ही हम राज्य और समाज के माध्यम से दंड क्रिया का प्रयोग होते देखते हैं। अपराधों की यत्किंचित् जो सूची मिलती है उससे स्पष्ट हो जाता है कि पाप से स्वतन्त्र अपराध का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया था। उसमें क़र्त्ता, उसकी स्थिति और देश का महत्त्व भी मान लिया गया था। विश्वास के स्थान पर अपराध निर्णय में विवेक शक्ति का प्रयोग होने लगा था। इसी लिए उनका निर्णय और व्यवहार मात्र अलौकिक शक्तियों के हाथ में नहीं दिया गया अपितु उनके स्थान पर समाज और व्यक्ति से उनका सम्बन्ध था।

वैदिक काल में अपराध की सूची के साथ उस काल की स्थिति का प्रभाव मुख्य रहता है। उसमें अपराधों को प्राथमिकता देने में उस समाज के लक्ष्य का महत्त्वपूर्ण योग रहता है। उत्तरवर्ती काल की स्थिति में उस काल की स्थिति का योग स्पष्ट हुआ। फलतः अपराध के वैयक्तिक, सामाजिक और राज्य सम्बन्धी सूची का विकास हुआ। इस सूची विस्तार में हम देखते हैं कि अपराधसंहिता का पूर्णरूप सामने आ जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है उत्तरवर्ती काल के अपराध परिगणन में समाज की स्थिति का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। उससे स्पष्ट होता है कि अपराध की कोई शाश्वत सूची, जैसा कि सनातनी दृष्टि में माना जाता है, नहीं है। उसमें देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन हुआ।

जहाँ उत्तरवर्त्ती काल में अपराध सूची का विकास पाते हैं वहाँ उस पर पाप के साथ उसका सम्मिश्रण होता हुआ भी दिखायी पड़ता है। इसका कारण बौद्ध, जैन और विदेशी प्रतिक्रिया ज्ञात होती है। इस युग के अपराध परिगणन में जातीय और धार्मिक तत्त्वों का प्रभाव स्पष्ट है। पीछे अपराध के विकास के अध्याय में हमने इस पर विचार किया और आगे के वर्गीकरण में हम इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। अपराधों के वर्गीकरण में हमने मूल धर्मशास्त्रों का वर्गीकरण सामने रखा है। इसमें अपराध और दंड को अलग कर दोनों को अलग-अलग दिखाया है। किन्तु ऐसा करने में यह आवश्यक नहीं है कि सभी अपराधों की सूची सामने रखें और क्रमशः उनका दंड संकलन करें। इसमें हमने केवल एक सामान्य दिशा ग्रहण की है। हमारा उद्देश्य केवल परिगणन मात्र नहीं है। हम चाहते हैं इस परिगणन से अपने समाजशास्त्रीय निष्कर्ष पर आना। इसके लिए जो आवश्यक सामग्री थी हमने एकत्र कर दी। लेकिन हमारा उद्देश्य यही है कि ऐसे परिगणनों पर पड़ने वाले प्रभाव को सामने रखा जाय। ऐसा करने में यथास्थान हमने संकेत किया है, पूरी समालोचना नहीं प्रस्तुत की है। इतना अवश्य है कि सामग्री संकलन का प्रकार इस ढंग का है कि उससे वस्तुस्थिति स्पष्ट होने में कठिनाई नहीं आती। अब क्रमशः अपराधों का वर्गीकरण प्रारम्भ करते हैं।

वाक्पारुष्य

वाक्पारुष्य का सामान्य अर्थ है अपशब्द प्रयोग। नारद के अनुसार देश, जाति या व्यक्ति को अपमानित करते या मानसिक कष्ट पहुँचाते हुए उच्च स्वर में प्रयुक्त अपशब्द वाक्पारुष्य है।[1] कात्यायन के अनुसार दूसरे के सामने संसार के निंदित शब्दों के उच्चारण, हुँकार अथवा कठोर शब्द

१. नारद० १८। १।

करना वाक्पारुष्य है।[1] नारद ने वाक्पारुष्य के तीन भेद किये हैं—निष्ठुर, अश्लील और तीव्र। इनमें तीव्र अपराध सबसे गुरुतम है।[2] बृहस्पति ने इनकी दूसरी संज्ञा दी है—निम्न, मध्यम और उच्च। देश, जाति, कुटुम्ब और व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रयुक्त अपशब्द निम्न माना जाता है और माता, बहन एवं कन्या के सम्बन्ध में प्रयुक्त मध्यम। इसी प्रकार निषिद्ध भोजन, पान और पाप के सम्बन्ध में प्रयुक्त वाक्पारुष्य उच्च माना जाता है।

वाक्पारुष्य में विभिन्न तत्त्वों का स्थान है। उनमें वर्ण का महत्त्व कम नहीं है। लेकिन किसी भी वर्ण से प्रयुक्त अपशब्द वाक्पारुष्य माना जाता है। ब्राह्मण को क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र गाली दें तो वह बड़ा अपराध माना जाता है। ब्राह्मण भी यदि अन्य वर्णों को गाली देता है–अपेक्षाकृत अपराध में न्यूनता होते हुए भी अपराध माना जाता है। गाली देने और सुननेवाले दोनों अपराधी हैं। माता के सम्बन्ध की गाली सामान्य से दुगुना अपराध है। वास्तविक तथ्य पर आधारित होते हुए भी मानसिक क्षोभकारी शब्द वाक्पारुष्य की सीमा में माने जाते हैं क्योंकि इससे मानसिक क्षोभ होता है। प्रमाण के लिए काण, खंज तथा अंगहीन को उसी रूप में निर्देशित करना अपराध है। नेत्र एवं दन्तविहीन के नेत्र एवं दाँत के सौन्दर्य की प्रशंसा वाक्पारुष्य है। किसी चोर को चोर शब्द से तिरस्कृत भी नहीं कर सकते। राजा एवं धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले उच्च वर्ण के लोगों को गाली देना जघन्य अपराध है। अपशब्दों के प्रयोग में प्रयोक्ता की स्थिति पर भी ध्यान दिया जाता है। यदि वह मोह, प्रमाद, संघर्ष और प्रेम में गाली

---

१. हुंकार कासनञ्चैव लोके यच्च विगर्हितम्।
अनुकुर्यादनुब्रूयाद् वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥ कात्यायन, उद्धृत अपरार्क, पृ० ८०५।

२. नारद० १८।२–३।

का उच्चारण करता है और उसे स्वीकार भी कर लेता है कि पुनः ऐसा नहीं करेगा तो अपराध की मात्रा में कमी कर दी जाती है।[1]

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यदि ब्राह्मण को गाली दें तो उनको १००;१५० और २०० पण क्रमशः दण्ड दिया जाना चाहिए।[2] यदि ब्राह्मण उनको गाली दे तो उसे क्रमशः ५०;२५ और १२ पण देना पड़ेगा।[3] समान जाति (एक जाति) के गाली देने और सुनने वाले दोनों हैं तो १२पण दण्ड दिया जाना चाहिए। किन्तु यदि गाली माता के सम्बन्ध में दी गयी है तो दुगुना दण्ड देना पड़ेगा।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि गाली का महत्त्व और दण्ड जाति के आधार पर होता था।[5] गाली वास्तविक तथ्य पर आधारित है तो भी उस पर दण्ड विधान किया गया है। यदि किसी चोर को क्रोधमें चोर कह दिया जाय तो कहने वाले को जुर्माना देना पड़ेगा और इसी प्रकार किसी काण, खंज तथा अंगहीन को उसी रूप में निर्देशित करने पर दण्ड दिया जाता; क्योंकि इससे उसे मानसिक क्षोभ होता। असत्य बात को गाली के रूप में प्रस्तुत करने पर अधिक दण्ड दिया जाता।[6] अन्य शास्त्रकारों ने यही

---

१. मनु० ८।२६६, २६७, २६९ २७४।; नारद० १८।१५–१८।; मत्स्य० २२७।६६।; विष्णु-धर्मोत्तर० ५।२७।; अर्थशास्त्र ३।१८।; याज्ञ० २।३०२।; आप० ध० सू० २।१०।२७।१४।; एथेन्स में साधारण गाली अपराध नहीं मानी जाती थी। अन्यत्र के लिए द्रष्टव्य : Historical Jurisprudence, vol 9 IIch.
Continental History of Criminal law, ch. 6

२. मनु० ८।२६७।; नारद० १८।१५।; मत्स्य० २२७।६६।

३. मनु० ८।२६६।; नारद० १८।१६।

४. मनु० ८।२६६।; नारद० १८।१७।

५. स्मृ० चं० २ पृ० ३२७।

६. शरीरप्रकृतिश्रुतवृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखञ्जादिभिः सत्ये त्रिपणो दण्डः। मिथ्योपवादे षट् पणो दण्डः। शोभनाक्षिदन्त इति काण खञ्जादीनां स्तुतिनिन्दायां द्वादश पणो दण्डः। अर्थशास्त्र ३।१८।

आधार स्वीकार किया है, दण्ड की मात्रा में भले भेद हो जाय।[१] व्यंगात्मक प्रशंसा करना भी अपराध है। जैसे काण व्यक्ति के चक्षु सौन्दर्य का वर्णन करना, दन्त विरूप को सुन्दर दाँत वाला कहना उस पर व्यंग ही है। अपराधी यदि मोह, प्रमाद, संघर्ष और प्रेम में गाली उच्चारण करता और स्वीकार करता है कि पुनः ऐसा नहीं कहेगा तो आधा दण्ड देना चाहिए।[२] राजा के विपरीत अपशब्दोच्चारण में जिह्वा-छेद करने का विधान किया गया है।[३] उच्च वर्ण के लोगों को यदि वे धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं, शूद्र गाली दे तो उसकी जिह्वा काट लेना चाहिए।[४]

एथेन्स में साधारण गाली पर दण्ड नहीं दिया जाता था। इस अपराध की सजा अधिक से अधिक कुछ आर्थिक दण्ड था।[५] 'ट्वेल्व टेबुल' के अनुसार गाली की सजा शारीरिक दण्ड है। मध्ययुगीन फ्रांस में जुर्माना किया जाता था।[६] इंग्लैण्ड में जुर्माना या शारीरिक दण्ड दोनों का यथा अवसर दण्ड दिया जाता था।[७]

दण्डपारुष्य

जैसा कि कहा गया है कि धर्मसूत्रों के बाद अपराधों के प्रकार नये परिगणन में प्रस्तुत किये गये। इनमें एक दण्डपारुष्य है। किसी को छूना, मारने के लिए दण्ड या हाथ उठाना और चोट कर देना दण्डपारुष्य कहा

१. मनु० ८।२७४; नारद० १८।१८; विष्णुधर्मोत्तर० ५।२७।
२. मोहात्प्रमादात्संघर्षात् प्रीत्या प्रोक्त मयेति यः।
नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्धं तस्य कल्पयेत्॥ कात्या० ७७५, उद्धृत वि० र०।
प्रमादमदमोहादिभिरर्ध दण्डाः। अर्थ० ३।१८।
३. नारद० १८।३०; याज्ञ० २।३०२।
४. जिह्वाछेदनं शूद्रस्यार्थं धार्मिकमाक्रोशतः। आप० ध० सू० २।१०।२७।१४।
5. Vinogradaff: Historical Jurisprudence vol.IIch.IXsect. 5p. 1[illegible]
6. Continental History of Criminal law. part 1. ch: VI. 39f
7. Blackstone, IV. pp·150-51.

जाता है।[१] नारद के अनुसार किसी के अंग को हाथ, पाँव, या अन्य शस्त्र से पीड़ित करना दण्डपारुष्य है। बृहस्पति मानते हैं कि हाथ, पाँव, मुद्रा, भस्म, कीचड़ और आयुध से पीड़ा पहुँचाना दंडपारुष्य मानना चाहिए।[२] यह हीन, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का होता है। इसमें वृक्ष और पशु भी सम्मिलित हैं।[३] हीन, मध्यम और उत्तम की व्यवस्था अपराधी और अपराध पर की जाती है।[४] इतना अवश्य है कि दंडपारुष्य में सिद्ध अपराध किसी का हो उसे दंड अवश्य मिलता है। इसमें प्रथम प्रयास करने वाले को अधिक उत्तरदायी माना जाता है।[५]

दंडपारुष्य में स्त्री एवं वर्ण के आधार पर भेद किया गया है। झगड़े में यदि अस्पृश्य, धूर्त, दास, म्लेच्छ, पापकारी एवं वर्णसंकर हो तो सामान्य नागरिक की अपेक्षा उसके अपराध अधिक गम्भीर माने जाते हैं।[६] यह भी देखा जाता है कि अपराध किसके साथ हुआ है। इसमें भी वर्ण एवं स्त्री के आधार स्वीकार किये गये हैं। ब्राह्मण एवं स्त्री के साथ हुए अपराध अक्षम्य माने जाते। इसके साथ यह भी देखा जाता है कि किस अंग की क्षति हुई। उनके आधार पर भी अपराध का स्तर निश्चित किया जाता।[७] यदि दोनों पक्ष अपराध में समान रूप से प्रवृत्त हैं तथा दोनों पक्ष आयु, लिंग और वर्ण में समान हों तो अपराध का निर्णय सामान्य नियमःपर किया जाता।

झगड़े में एक पक्ष अस्पृश्य, धूर्त, दास, म्लेच्छ, पापकारी, प्रातिलोम्य हो तो उन्हें अर्थदण्ड के स्थान पर ताडन करना चाहिए। ब्राह्मण के अतिक्रमण

---

१. दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतामिति। अर्थशास्त्र ३।१९।१।
२. नारद० १८।४।
३. याज्ञ० २।२२। पर मिताक्षरा।
४. नारद० १८। ५-६।
५. नारद० ७।१२।
६. विवादरत्नाकर पृ० २२७।; कात्यायन, अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ८१३।
७. मनु० ८।२८४।; नारद० १८।२९।

करने पर तो उनका वध ही कर देना चाहिए।[१] श्वपच, चाण्डाल, शिकारी, व्रात्य, दासादि यदि उच्च वर्ण के लोगों के साथ दण्डपारुष्य करते हैं तो उन्हें वे उसी स्थान पर कोड़े लगवा तथा अन्य दण्ड दे सकते हैं। यदि ऐसा सम्भव न हो तो राज्याश्रय लेकर, राज्य के माध्यम से ऐसा किया जा सकता है।[२] दण्ड-विधान में अपराध की स्थिति एवं व्यक्ति आदि का ध्यान रखा गया है।[३] फलतः जाति, गुण आदि के आधार पर विषमता क्रियान्वित हो जाती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों से ही जातीय आधार पर अपराध निर्णय की व्यवस्था चलती है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार ब्राह्मण को मारने के लिए हाथ उठाने पर १०० गाय, मारने पर १००० गाय का दण्ड दिया गया है। यदि रक्त निकाल देता है तो वह अक्षम्य हो जाता है और उसके पितर भी नहीं मुक्त हो सकते हैं।[४] गौतम और मनु ने तो पितरों के बन्धन का १०० और १००० वर्ष का काल भी निर्धारित कर दिया है।[५] स्त्री के साथ दण्ड-पारुष्य में अधिक दण्ड मिलता।[६] यदि वह उच्च वर्ण की हो तो अपराध और भी गर्हित हो जाता है। अंग छेद में अपराध की तीन स्थितियाँ थीं। चमड़ा काट कर एक व्यक्ति को अधिक व्यक्ति पीड़ित करते हैं तो उन्हें दुगुना दण्ड मिलता।[७] क्षति पहुँचाने वाले के लिए आवश्यक होता कि

---

१. अस्पृश्य धूर्तदासानां म्लेच्छानां पापकारिणम्। प्रतिलोम प्रसूतानां ताडनं नार्थतो दमः। कात्या० उद्धृत अपरार्क पृ०८१३; प्रातिलोम्यास्तथा चान्त्याः पुरुषाणां मलाः स्मृताः। ब्राह्मणातिक्रमे वध्यात् दातव्या धनं क्वचित्। वि० र० पृ० २७७।

२. कात्या० ७८३।; वृ० S. B. E. Vol. 33. P. 359 श्लोक ७८६।

३. मनु० ८।२८६।

४. तै० सं० २।६।१०।२।

५. गौ० २१।२०-२२।; मनु० ११।२०६-२०७।

६. बृह० S. B. E. Vol. 33 P. 357 श्लोक २,३।

७. याज्ञ० २।२२१; कौटल्य ३।१९।; वि० ध० सू० ५।७३।

वह क्षत के लिए औषध आदि की व्यवस्था करे। राज्य द्वारा वह इसके लिए बाध्य किया जा सकता था।[१] प्रमाण के लिए जैसे कोई व्यक्ति किसी की सम्पत्ति को क्षति पहुँचाता है तो जुर्माना में उसे क्षतिपूर्ति करनी पड़ती।[२] बहुमूल्य सम्पत्ति की क्षति में दुगुना जुर्माना देना पड़ता।[3] प्रमत्तावस्था में तथा ऐसी अन्य स्थितियों में किये अपराध पर दण्ड नहीं होता। आत्मरक्षा के लिए, धर्म, स्त्री, दुर्बल आदि की रक्षा में किए वध में कोई दण्ड नहीं होता।

रक्त प्रवाहित करना, मांस, क्षति और हड्डी तोड़ना आदि गम्भीर अपराध हैं। हड्डी तोड़ने पर देश निकाला भी किया जा सकता है।[४] कान, ओष्ठ, नाक, पाँव, आँख, जिह्वा आदि के काटने पर मध्यम साहस दण्ड दिया जाता। यदि शूद्र उच्च वर्ण के लोगों को उक्त क्षति पहुँचाता तो उसका भी वह अङ्ग काट लिया जाता।[५] मिताक्षरा ने ऐसा ही दण्ड वैश्य को भी दिया है।[६] शूद्र यदि हाथ भी उच्च वर्ण को उठा दे तो उक्त दण्ड उसे भुगतना पड़ता। यदि क्रोध में पाँव चला दे तो पाँव भी काट लिया जाता था।[७] समान आसन पर बैठने के अपराध में शूद्र की कटि को तप्त लोहे से चिह्नित कर अपदेश में निर्वासित कर दे अथवा स्फिच (Hip) को इस प्रकार काट दे जिससे वह मर न सके। दर्प के साथ वह ब्राह्मण का अपमान करता है तो उसका दोनों ओष्ठ राजा काट ले। मूत्रादि प्रक्षेप से

---

१. कौट० ३।१९।; मनु० ८।२८७।; याज्ञ० २।२२२।; वि० ध० सू० ५।७५-६६।

२. मनु० ८।२८८।

३. हीनेष्वर्धदमो मोहमदादिभिरदण्ड्यम्ः। याज्ञ० २।२१४।; अर्थशास्त्र ३।१९।

४. मनु० ८।२८४।, नारद. १८।२९।

५. गौ० १२।१।; अर्थशास्त्र ३।१९।; बृह० उदधृत स्मृ० चं० २ पृ० ३२४।

६. मिता० याज्ञ० २।२१५। पर।

७. मनु० ८।२८०।
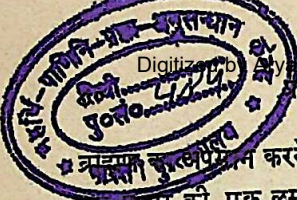
[illegible] करने पर उस इन्द्रिय विशेष का ही छेदन करना चाहिए।[1] इस प्रकार की एक लम्बी सूची मनु ने दी है। इसमें पशुओं के साथ दण्ड पारुष्य के दण्ड का विचार किया गया है।[2]

वेबीलोनिया में यदि कोई व्यक्ति किसी से झगड़ता तो उसे ३० कोड़े लगाये जाते। दास दास पर और स्वतन्त्र स्वतन्त्र पर आक्रमण करता तो उसे १ मीना (Mina) और १० शेकिल (Shackle) जुर्माना देना पड़ता। यदि दास किसी स्वतन्त्र व्यक्ति पर आक्रमण करता तो उसके कान काट लिए जाते। झगड़े में चोट आ जाय तो डाक्टर का खर्च और मृत्यु हो जाय तो प्रतिफल देना पड़ता।[3] पारस (Persian Law) में आक्रमण करने पर १५ कोड़े—प्रत्येक प्रकार के—लगाये जाते। आक्रमण से ज्यादा चोट आ जाय तो वैसे ही ३० कोड़े लगाये जाते। यदि रक्त निकल आता है तो ५० ऐसे कोड़े जिनसे घाव होता जाय। हड्डी तोड़ने पर ७० कोड़े, प्रत्येक प्रकार के लगाये जाते और मृत्यु पर वैसे ही ९० कोड़े।[4] मोज़ेक लॉ में दाँत के बदले दाँत और आँख के बदले आँख का सिद्धान्त प्रचलित था।[5] लेकिन पारस्परिक झगड़े में हुए घाव पर दण्ड नहीं दिया जाता।[6] एथेन्स में दण्डविधि और व्यवहार विधि दोनों का क्रम चलता था। व्यवहार में प्रायः पीटने का दण्ड दिया जाता। दण्डापराध में जूरी के निर्णय के अनुसार जुर्माना या जेल की सजा दी जाती।[7] आगे चलकर वहाँ पीड़ित की स्वीकृति पर व्यवहार या दण्डापराध का अभियोग चलने लगा। प्रायः

---

१. मनु० ८।२८५।
२. मनु० ८।२८६।
3. Ham 196–208.
4. Zend-Vend-Frag iv, iiiA17, 26-42
5. Exod. 20, 24, 25.
6. Ibid.
7. Demansth iii—Oration against Midias p. 81 opp viii p. 357.

व्यवहार चलता और प्रतिफल दे दिया जाता।[1] मध्ययुगीन फ्रान्स में साधारण घाव पर जुर्माना और विशेष पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी।[2] प्राचीन इंग्लैंड में अङ्गच्छेद का सिद्धान्त था। आगे चलकर जुर्माना, जेल या शारीरिक दण्ड, अपराध के अनुसार, की व्यवस्था की गयी।[3]

स्त्रीसंग्रहण

'पर स्त्री-पुरुष के मिथुनी भाव' को स्त्री-संग्रहण कहा जाता है।[4] यह तीन प्रकार का होता है—बल, उपाधिकृत और अनुरागज। एकान्त स्थान में इच्छा के विपरीत मत्त, उन्मत्त प्रमत्त या विलाप करते हुए के साथ बलात्कार है। छद्म से गृह में बुलाकर मद्य आदि द्वारा अनुचित मनोभाव की अवस्था में संयोग को उपाधिकृत कहते हैं। परस्पर चक्षुराग से अथवा दूती आदि के माध्यम से, रूप या अर्थ लोभ से किये भोग को अनुरागज कहा जाता है।[5] अनुरागज के तीन भेद हैं—प्रथम, मध्यम और उत्तम। प्रथम में स्त्री के अनुरूप छेड़-छाड़, मुस्कान, दूती-सम्प्रेषण, वस्त्राभूषण स्पर्श; मध्यम में, वस्त्राभूषण-प्रेषण, फलपुष्प-समर्पण, ऐकान्तिक और वैयक्तिक बातचीत और उत्तम में, समान शय्या या आसन शयन, आलिंगन चुम्बन और परिरम्भण का संग्रह किया जाता है।[6]

निबन्ध ग्रन्थों में बलात्कार का परिगणन साहस में किया गया है।[7]

---

1. Twelve Table 8[2]
2. Continental History of Criminal Law; Part I ch. vi 39f
3. Blackstone, iv ch. xv pp. 205–267, 215.
४. याज्ञ० २।२८३। और उस पर मिताक्षरा।
५. वृह० उद्धृत अपरार्क पृ० ८५४।
६. व्यास० और बृहस्पति० स्मृ० चं० २ पृ० ८।
७. मदनरत्न, व्य० प्र० ३९६–३९७। तुलनीय Indian Penal Code, Scetion 376.

इसमें मृत्युदण्ड तक का विधान है।[1] बलात्कार में स्त्री का अपराध नहीं माना गया। व्यभिचरित होने से पाप का प्रायश्चित अवश्य स्वीकार किया गया।[2] लेकिन प्रेम से भोग में स्त्री का अपराध माना जाता और उसमें भी पुरुष का दोष अधिक है।[3] विमाता, मौसी, सासु, भाभी, फूआ, चाची, वहन की सखी, शिष्य-स्त्री, कन्या, आचार्य-भार्या, सगोत्र की कन्या, शरणागता, रानी, धात्री, संन्यासिनी एवं उत्तम वर्ण वाली के साथ संभोग महान अपराध माने गये हैं और इनमें अंगच्छेद जैसा दण्ड दिया जाता था।[4] धर्मसूत्रों की अपेक्षा परवर्ती स्मृतियों में अपराध एवं दण्ड के सम्बन्ध में अन्तर आया। समाज में पेशेवर जातियाँ विकसित हुईं जिनके साथ सम्भोग अपराध नहीं माना गया। कुछ ऐसी भी जातियाँ थीं जो कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए अपने परिवार की स्त्रियों को उच्चवर्ण के लोगों को प्रस्तुत करने लगीं। नैतिकता की सामाजिक स्वीकृति के बाद अपराध के नियमों में संशोधन हुआ। परवर्ती काल में स्त्री अपराध को इतना सरल कर दिया गया कि स्त्रियां सामान्य प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जातीं। स्पष्ट है कि उस समय बाह्य जातियों के प्रभाव से उक्त संशोधन किया गया। यद्यपि वैदिक काल में भी स्त्र के अपराध में सरलता थी।

बलात्कार में समान वर्ण के लोगों में सर्वस्व अपहरणपूर्वक, गधे पर बैठाकर नगर-प्रदर्शन के बाद अंग विशेष का छेदन किया जाता था। यदि शूद्र वर्ण या निम्नवर्ण के साथ ऐसा हुआ तो उक्त दण्ड का आधा, यदि निम्न वर्ण के व्यक्ति ने उच्च वर्ण की स्त्री के साथ ऐसा किया तो मृत्युदण्ड दिया जाता।[5] कात्यायन बलात्कार पर समान रूप से मृत्युदण्ड ही

१. याज्ञ० २।२८६।
२. बृहस्पति, उद्धृत स्मृ० चं० पृ० ३२१।
३. कात्या० ४८७।
४. नारद० १५। ७३–७५।
५. बृह० उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३२०; याज्ञ० २।२८६।

उत्तम समझते हैं।[1] छद्म द्वारा किये संभोग पर पुरुष का सर्वस्व अपहरण के बाद ललाट पर भगांकित कर उसे पुर से बाहर निकाल दें।[2] इन दो स्थितियों में स्त्री को दण्ड नहीं देना चाहिए। इतना अवश्य है कि उसे कृच्छ्र अथवा पराकव्रत प्रायश्चित्त में करना पड़ता। प्रायश्चित्त के पूर्व उसे विशेष एवं कठोर जीवन बिताना पड़ता। उसके बाद वह पवित्र मानी जाती।[3] स्वेच्छा से हुए अनुरागज संभोग में वध के स्थान पर स्त्री का त्याग ही विहित किया गया। स्त्री का न बध किया जाय न तो विरूप; क्योंकि दोनों स्त्री के लिए निषिद्ध हैं। महापराध में भी उसका विसर्जन ही उपयुक्त है। विरूप करने में इतना तो अवश्य होना चाहिए कि पति विरूप न करे।[4] कात्यायन ने सभी अपराधों में स्त्री को आधा दण्ड दिया है। अर्थ में आधा तथा मृत्युदण्ड के स्थान पर विरूपण ही विधेय माना है।[5]

संन्यासिनी सम्बन्धी अपराध का मतभेद विचारणीय है। नारद और मत्स्यपुराण उसके साथ किये सम्भोग को अत्यन्त पाप मानते हैं जब कि याज्ञवल्क्य और कौटल्य कुछ पण का ही दण्ड देते हैं।[6] वस्तुतः कौटल्य ने संन्यासी और संन्यासिनियों को उच्च दृष्टि से नहीं देखा है। उनके काल में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों तथा वैदिक परिव्राजकों का नग्न चित्र प्रस्तुत था। अतएव वे उनका नियमन करना चाहते थे। सर्वप्रथम उन्होंने भिक्षु और परिव्राजकों को लौकिक शासन के सामने सामान्य नागरिक के रूप में उत्तरदायी बनाया। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार भी किया जाता है कि कौटल्य और याज्ञवल्क्य निम्न वर्ण की परिव्राजिकाओं के सम्बन्ध में विधान कर रहे

१. कात्या० स्मृ० चं० भाग २ पृ० ३२०।
२. बृह० उद्धृत स्मृ० चं० भाग २ पृ० ३२०।
३. बृ० उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३२१।
४. स्मृ० चं० २ पृ० २४६।
५. कात्यायन० ४८७।
६. कौ० ४।१३।; याज्ञ० २।२९३।

हैं और नारद एवं मत्स्यपुराण उच्च वर्ण की।[१] किन्तु इस संगति का कोई आधार नहीं। मनु पर कुल्लूक ने व्याख्या करते समय प्रव्रजिता का अर्थ स्पष्टतया बौद्धा और ब्रह्मचारिणी किया है।[२] कौटल्य ने समाज में घूमने वाली परिव्रजिताओं का स्तर वेश्या से अधिक नहीं रखा,[3] क्योंकि वेश्या और परिव्रजिता के साथ व्यभिचार के अपराध में कुछ पण दण्ड का विधान किया है। पण की मात्रा में भेद है न कि अपराध की विशेषता में। काणे महोदय ने मत्स्य पुराण के बचन में वर्णोत्कृष्टा का सम्बन्ध प्रव्रजिता के साथ लगाना चाहा वह अनुपयुक्त है। प्रव्रजिता और वर्णोत्कृष्टा दोनों के साथ हुए अपराध में वहाँ कहा जा रहा है जैसा कि 'तथैव च' शब्द से स्पष्ट है।[४]

बाबीलोनिया में भोग की स्थिति में स्त्री यदि पर-पुरुष के साथ पायी जाय तो दोनों को पत्थर में बाँध कर नदी में डाल दिया जाता। यदि पति अपनी स्त्री और राजा अपने कर्मचारियों को जीवित रखना चाहे तो ऐसा नहीं हो सकता था। यदि पुरुष जेल में है और घर में खाने के लिए कुछ नहीं है; तो स्त्री खाने की सामग्री के लिए पर-पुरुष सम्बन्ध कर सकती थी।[५] अभिजात वर्ग की स्त्री के साथ सम्बन्ध करने पर पुरुष को देश निकाला और स्त्री को नाक-कान काटने का दण्ड दिया जाता।[६] अन्य की स्त्री के साथ सम्बन्ध करने पर हिब्रू लॉ में उभय पक्ष को शारीरिक दण्ड दिया जाता। दास स्त्री के साथ सम्बन्ध होने पर पुरुष को तो दण्ड नहीं दिया जाता बल्कि

---

1. P.V. Kane : The History of Dharma Shastra vol. III p. 535.
२. बौद्धाभिर्ब्रह्मचारिणीभिः संभाषां कुर्वन्किञ्चिद्दण्डमात्रं दाप्यः स्यात्। मनु० ८।३६३। पर कुल्लूक भट्ट।
३. अर्थशास्त्र ४।१३।; याज्ञ० २।२९१।
४. तथा प्रव्रजिता नारी वर्णोत्कृष्टा तथैव च।
इत्यागम्यांश्च निर्दिष्टास्तासां तु गमने नरः। मत्स्य० २२७।१४१।
5. Hamm, 121, 133, 134.
6. Zorostian Civilisation; ch. I. Moral wrongs.

स्त्री को कोड़े की मार सहनी पड़ती।[1] एथेन्स में जूरी के निर्णय के अनुसार दण्ड दिया जाता।[2] रोम में व्यभिचार को अपराध विधि में नहीं मानते किन्तु विवाह विधि का उल्लंघन मानते और उसकी सजा शारीरिक अवश्य थी।[3] स्त्री की सम्मति से हुए व्यभिचार को मध्ययुगीन फ्रांस में अपराध नहीं माना जाता था। व्यभिचार में कुछ जुर्माने देने पड़ते। किन्तु उस स्थिति में पति द्वारा पकड़े जाने पर पति को अधिकार था कि वह अपनी स्त्री को मार भी सकता था।[4] प्रारम्भिक इंगलैंड में व्यभिचार में पति को प्रतिफल देना पड़ता। पकड़े जाने पर पति या निकट संबंधी को अधिकार था कि वह व्यभिचारी को जान से समाप्त कर सकता था किन्तु बाद में इस कानून में संशोधन कर दिया गया।[5]

द्यूत समाह्वय

द्यूत प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही है। ऋग्वेद में एक स्थान पर जुआरी की दशा पर विलाप का दृश्य चित्रित किया गया है।[6] एक दूसरे स्थान पर विभीदक वृक्ष के अक्ष को पाप कहा गया है।[7] अथर्ववेद में भी ग्लह (डिस) का यत्र तत्र उल्लेख है।[8] वाजसनेयी संहिता में 'अक्षराजाय कितवम्' शब्द मिलता है।[9] राजसूय आदि यज्ञों में द्यूत का प्रयोग पाया जाता है।

---

1. Ezisk 18"
2. Demonsth. III Oration Against Aristocrates. p. 184 and App VIII PP. 348-349.
3. Just. IV. Title XVIII, 4.
4. Continental Criminal Law P. 1 ch. VI—39f.
5. Blackstone IV—P. 64.
६. ऋक्० १०।३४।
७. ऋक्० १।४१।९।; ७।८६।६।
८. अथर्व० ४।१६।५।
९. वाजस० सं० ३०।१८।

पाणिनि ने अक्षशलाका के विषय में प्रयोग दिया है।[१] अन्यत्र पाणिनि द्वारा दिये शब्दों से सांस्कृतिक चित्रण हो जाता है।[२] युधिष्ठिर की प्रतिज्ञा ही थी कि अद्य में प्रत्येक चुनौती स्वीकार करने को तैयार रहेंगे।[३] लेकिन इसका तात्पर्य यही है कि द्यूत मनुष्य के मस्तिष्क को भ्रष्ट कर देता है। युधिष्ठिर की दुख-कथा के पीछे यही कारण रहा है। ब्रह्मपुराण में द्यूत की निन्दा करते हुए कहा गया है कि जुआरी की स्त्री सदा विपत्ति और अनिश्चित भविष्य में रहती है।[४] वेदों में इसे अतुलनीय पाप कहा गया है।[५] वैदिक-काल में द्यूत जितना गर्हित पाप कहा गया है, स्मृतियों में वैसा नहीं माना गया। उसे राज्य नियन्त्रण में वैध भी मान लिया गया।

अप्राणि, जैसे अक्ष-शलाका आदि के द्वारा खेले जाने को द्यूत; प्राणि, जैसे कुक्कुट, मेष आदि से पणपूर्वक खेले जाने को समाह्वय कहा जाता है।[६] द्यूत और समाह्वय करना और कराना समानरूप से अपराध है। इससे सम्बद्ध नागरिक राष्ट्र के लिए हानिकारक और प्रच्छन्न तस्कर माने गये हैं। इससे वैर-भाव का विस्तार होता है। मनोरंजन के लिए भी इसका प्रयोग न करना चाहिये।[७] लेकिन कौटल्य और याज्ञवल्क्य इसकी व्यवस्था करते हैं। इतना अवश्य है कि उस पर राज्य के नियन्त्रण में देख-रेख अपेक्षित है। राज्य द्वारा निश्चित स्थान पर ही जुआ खेला जा सकता है। उससे

---

१. पाणिनि० २।१।१०। और उस पर महाभाष्य।
२. पाणिनि० ४।४।२।
३. उद्योग० १२८।६।; सभा० ५८।१६।
४. ब्र० पु० १७१।२९–३८।
५. ऋ० १०।३४।१०–११।
६. मनु० ९।२२३।; नारद १९।१।; वृ० S. B. E. 33 P. 385.
७. मनु० ९।२२५–२२७।; उद्योगपर्व० ३७।१९।; कात्यायन ९३४।

अतिरिक्त स्थान पर निषिद्ध एवं अवैधानिक है।[१] मनु, याज्ञवल्क्य के मत में प्रस्तुत असंगति का निराकरण करते हुए बृहस्पति ने लिखा है कि मनु का मत जुए को सत्य, शौच और धन-नाशक होने पर आधारित है। याज्ञ-वल्क्य का मत राजस्व और चोरों का पता लगाने पर आधारित है।[२] राज्य द्वारा निश्चित स्थान से अतिरिक्त स्थान पर भी जुआ खेला जा सकता है। लेकिन उसकी सूचना देकर उसका राजस्व अवश्य जमा करना पड़ता।[३]

जुआ खेलने तथा खेलाने के शुल्क के आधार पर याज्ञवल्क्य, कौटल्य और नारद एकमत हैं, किन्तु प्रतिशत अनुपात में मतभेद देश, काल और मुद्रा के मूल्य के अनुसार दिखायी पड़ता है।[४] खुले तौर पर होने वाला जुआ द्वार पर हो सकता है जिससे प्रतिष्ठित लोग भी उसमें भाग ले सकें और राज्य शुल्क बढ़ा सकें।[५] राज्य-शुल्क सभिक के द्वारा मिल जाता है। यदि जुआ गुप्त रूप से, नकली अक्ष पर, सभिक की जानकारी से परे हो रहा है तो वह अपराध माना जाता है।[६] इसमें देश निकाला तक हो सकता है। निष्कासित जुआरी के गले में अक्ष बांध दिया जाता। अनभिज्ञ जुआरी यदि हार जाता है तो मुक्त कर दिया जाता। अभिज्ञ भी यदि सर्वस्व हार जाय तो उसका सब न लेना चाहिए।[७]

जुआरियों में विवाद हो जाने पर सभिक ही प्रमाण माना जाता है, यदि वह ईमानदारी के लिए स्वीकार्य हो। विवाद के कारण जय, लाभ, कूट

---

१. याज्ञ० २।२०३। कौटल्य० ३।२०।
२. बृहस्पति० उद्धृत स्मृ० च० २ पृ० ३३१।
३. नारद० १९।८। याज्ञ० २।१९९।
४. अर्थशास्त्र ३।२०; याज्ञ० २।१९९।; कात्या० १४०।; नारद० १९।२।
५. वर्तेत चेत् प्रकाशं तु द्वारावस्थिततोरणम्।
असंमोहार्थमार्याणां कारयेत्तत्करप्रदम् ॥ कात्या० ९३५ उद्धृत वि०र० ६११।
६. याज्ञ० २।२०२।; नारद० १९।६–७।
७. बृ० उद्धृत अपरार्क पृ० ८०४।; दीपकलिका—याज्ञ०२।२०० पर उद्धृत।
P. V. Kane : The History of Dharma Shastra Vol. III P. 540.

अक्ष आदि होते हैं।[1] जुआरियों के विवाद में जुआरियों की ही साक्षी प्रमाण है। उनके विवाद का निर्णय भी राज्य द्वारा नियुक्त कोई जुआरी ही करता है। यदि वे आपस में द्वेषभाव से अभिभूत हैं तो राजा स्वयं विवाद का निर्णय करता है।[2] समाह्वय पर भी राज्य का शुल्क लगता है उसमें चाहे पशु मर ही क्यों न जाय। मानसोल्लास में कुक्कुटों के युद्ध का मनोरंजक वर्णन मिलता है। दशकुमारचरित में द्यूत और उसके नियमों का वर्णन आया है।[3]

स्तेय और साहस

स्तेय ऋग्वेद में भी महान अपराध माना गया है। उससे बँचने के लिए देवताओं की स्तुति की गई है। मनु ने स्तेय और साहस में अन्तर किया है। आधुनिक शब्दों में स्तेय को चोरी और साहस को डाका कहा जा सकता है। कात्यायन के अनुसार प्रच्छन्न या प्रकाश एवं रात्रि या दिन में परद्रव्य अपहरण करना स्तेय है। नारद के अनुसार व्यक्ति को नशे की स्थिति में लाकर उसकी सम्पत्ति का अपहरण करना चोरी है।[4] वस्तुओं के मूल्य के आधार पर चोरी के तीन भेद हैं—क्षुद्र, मध्यम और उत्तम।[5] चोरी न करने पर भी कुछ वस्तुओं को यदि बिना आज्ञा ग्रहण किया जाता है तो वह भी अपराध है।

---

१. विग्रहेऽथ जये लाभे करणे कूटदेविनाम्।
प्रमाणं सभिकस्तत्र शुचिश्च सभिको यदि ॥ कात्या० ९४२।

२. बृहस्पति० उद्धृत अपरार्क पृ० ८०४।

३. उच्छ्वास २ पृ० ४७।

४. कात्या० उद्धृत दायभाग ६।९। पृ० २२४; नारद० उद्धृत मिताक्षरा याज्ञ० २।२७५। पर।

५. मनु० ८।३२०–२३।

उच्चवर्ण के लोग गाय के लिए तृण, पूजा के लिए पुष्प और फल कहीं से ले सकते हैं।[1] लेकिन शूद्र ऐसा नहीं कर सकता। उच्चवर्ण के लोग भी उक्त उद्देश्य के अतिरिक्त यदि वस्तु ग्रहण करते हैं तो वे भी अपराधी माने जायँगे। आपस्तम्ब के अनुसार आवश्यकतानुसार थोड़ी घास और पुष्प, जिससे स्वामी को कष्ट न हो, लिया जा सकता है। लेकिन आवश्यकता से अधिक लेने पर अनुमति आवश्यक होगी।[2] महाभारत के अनुसार ३ दिन भूखे रहने के बाद चौथे दिन कहीं और किसी के यहाँ से १ दिन भर का भोजन लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में की गई चोरी का भी व्यास समर्थन करते हैं। यात्री को, जिसका भोजन समाप्त हो चुका है, कहीं से किसी के यहाँ से भोजन प्राप्त करने का अधिकार है।[3]

दूसरे की सम्पत्ति का बलपूर्वक राजकर्मचारी, स्वामी अथवा अन्य किसी की उपस्थिति में भी अपहरण करना ही साहस है। साहस में सम्पत्ति के अतिरिक्त पर-स्त्री एवं पुरुष का अपहरण भी हो सकता है। चोरी की अपेक्षा बल एवं दर्प से अपहरण के विशेष कारण से साहस स्तेय आदि से अतिरिक्त अपराध माना गया और इसका दण्ड भी अतिरिक्त होता है।[4] मितक्षारा के अनुसार तीन और बृहस्पति के अनुसार चार प्रकार का साहस कहा गया है। मिताक्षरा ने प्रथम, मध्यम और उत्तम साहस में इस प्रकार का भेद

---

१. गौ० १२।२५।; याज्ञ० १।१६६ पर मिताक्षरा।; मनु० ८।३३९ पर कुल्लूकभट्ट।

२. अतिव्यवहारो वृद्धो भवति । सर्वत्रानुमतिपूर्वमिति हारीत। आ० ध० सू० १।२८।१–५।

३. स्मृ० चं० १ पृ० १७५।; मत्स्य० २२७।११०, ११४।; मनु० ८।३४१।

४. स्यात्साहसं त्वन्वयवत् प्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हृत्वापव्ययते च यत् ॥ मनु० ८।३३२।
अर्थशास्त्र ३।१७।; याज्ञ० २।२३० और उस पर मिताक्षरा।; नारद० १७।१।; कात्या० ७९५–६।

किया है और विभाजन का आधार धर्मशास्त्रों एवं अर्थशास्त्र को माना है। वृहस्पति ने मनुष्य-मारण, चौर्य, परदारापहरण, दोनों पारुष्य इस प्रकार के अवान्तर भेद किये हैं।[१] फलमूल, क्षेत्र, जल आदि से सम्बद्ध प्रथम साहस, वस्त्र, पशु, अन्न, गृह आदि से सम्बद्ध मध्यम साहस और विष-शस्त्रादि से परदारादि के अपहरण को उत्तम साहस में परिगणित किया गया है। उनके अनुसार ही दण्ड भी दिया जाता है।[२] साहस में इस पर विचार करना आवश्यक है कि किसने अपराध प्रारम्भ किया, कौन सहायक है, किसने परामर्श दिया, किसने उकसाया, किसने व्यक्ति का परिचय दिया और मारने का प्रकार बताने वाले प्रयोजक और प्रोत्साहक कौन हैं? अपराधी को शरण, आवश्यक सामग्री, शस्त्र एवं भोजन आदि देने वाला भी अपराधी के समान अपराध में सम्मिलित माना जाता है। प्रोत्साहन (Abetting) भी अपराध में समान महत्व रखता है। याज्ञवल्क्य ने वृक्ष, पशु, समाज के उपेक्षित वर्ग एवं समान्य नागरिक में भेद नहीं किया है।[३]

चोरी और डाके

वस्तुओं के मूल्य के आधार पर चोरी के ३ भेद हैं—क्षुद्र, मध्यम और उत्तम। ऐसे भेद वस्तु के आधार पर किये गये हैं।[४] तीन प्रकार के चोरों का तीन साहस के अनुपात के दण्ड का विधान नारद करते हैं।[५] बहुमूल्य रत्नों की चोरी, उच्च वर्ण के पुरुष या स्त्री को भगाने के अपराध में मृत्यु-

---

१. मिता० याज्ञ० २।२३० पर।
मनुष्य मारणं चौर्यं परदाराभिमर्शनम्।
पारुष्यमुभयं चेति साहसं स्याच्चतुर्विधम् ॥ वृ० उद्धृत स्मृ०चं०२ पृ० ३१२।
२. मिताक्षरा, याज्ञ० २।२३० पर।
३. याज्ञ० २।२३२–२३७; अर्थशास्त्र ३।१७; आप० ध० सू० २।२।२९।१।
स्मृ० चं० २ पृ० ३१२।
४. मनु० ८।३२०, ३२१, ३२२ और ३२३।
५. नारद० १८।२१।

दण्ड तक का विधान मनु करते हैं।[१] व्यास इसके स्थान पर तप्त लौह से दागना और हस्तपाद छेदन माना है। हस्ति, अश्व और घात करने वाले के लिए याज्ञवल्क्य ने शूली और मनुस्मृति में राजकोश एवं मंदिर की वस्तु, अश्व, रथ तथा गज चोर के लिए मृत्युदण्ड दिया जाता है।[२] सेंध लगाने वाले को मनु ने शूली का विधान किया है।[३] प्रथम बार पाकेटमार को अंगुष्ठ और अंगुली काटने, द्वितीय बार हाथ और पांव काटने का नियम है, तृतीय बार अपराध करने पर मृत्युदण्ड।[४] दण्ड के साथ तस्कर पर क्षतिपूर्ति का भी उत्तरदायित्व था।[५] क्षतिपूर्ति नारद के अनुसार नष्ट वस्तु के मूल्य का ५ गुना और मनु के अनुसार दुगुना होना चाहिये।[६] शूद्र द्वारा वस्तु चुराने पर क्षतिपूर्ति के ८ गुना करने के पक्ष में प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार हैं किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्वारा इस अपराध में १६, ३२ और ६४ गुना क्षतिपूर्ति करनी पड़ती।[७] मूर्ख ब्राह्मण इस अपराध में पकड़ा जाय तो उसका सर्वस्व अपहरण कर लेना चाहिए। विवाद चिन्तामणि के अनुसार यदि उसके पास सम्पत्ति ही नहीं है तो जब तक मर न जाय वन्दी वना कर कठोर श्रम लेना चाहिये।[८] चोर के कार्य में सहायता देने वाले को भी वही दण्ड देना चाहिये।[९]

---

१. मनु० ८।३२३।
२. याज्ञ० २।२७३; मनु० ६।२८०।
३. मनु० ९।२७६।
४. मनु० ९।२७७; याज्ञ० २।२७४; विष्णु० ध० सू० ५।१३६।
५. मनु० ८।३२०; याज्ञ० २।२७०; वि० ध० ५।८९।
६. नारद० (परिशिष्ट २२-२४); मनु० ८।३२६–३२९; नारद० (परिशिष्ट ५१–५२)।
७. गौ० १२।१२–१४; मनु० ८।३३७–३३८; नारद० (परिशिष्ट ५१–५२)।
८. वि० चि० पृ० ९२; गौ० १२।४६–४८; मनु० ९।२७१; याज्ञ० २।२७६।
९. गौ० १२।४६–४८; मनु० ६।२७१; कात्या० ८२७; याज्ञ० २।२८६।

चोर प्रकाश (प्रकट) और अप्रकाश (अप्रकट) दो प्रकार के होते हैं। प्रज्ञा के सामर्थ्य और मात्रा की विभिन्नता के कारण वे सहस्रों प्रकार के हो जाते हैं।[1] मनु ने उन व्यापारियों और वणिकों को प्रकाशवञ्चक (प्रकट चोर) कहा है जो नाप-तौल, मूल्य आदि के द्वारा जनता का रुपया अपहरण करते है। इसी प्रकार असामाजिक कार्य करने वाले—घूसखोर, द्यूतरत, औपाधिक (भय दिखाकर रूपया लेना) वञ्चक, मंगल देशवृत्त (धन, पुत्र आदि की मंगल आशा दिखाकर रुपया लेने वाले), हस्तरेखा से धन ग्रहण करने वाले, हस्ति शिक्षाजीवि, चिकित्साजीवि, चित्र लेखाद्युपायजीवि, परस्त्री-वशीकरण कुशल आदि छलग्रस्त को चोर माना गया है। इन वञ्चकों की कार्यवाहियों के निरीक्षण के लिए सभास्थान, जलपान-स्थान, सुरा की दुकान आदि स्थानों पर गुप्तचरों को नियुक्त कर देना चाहिए।[2] व्यास ने मूलतः नव प्रकार के चोर बतलाया है—उत्क्षेपक (One who quietly relieves a man of his money when later is attending something else) सन्धिभेत्ता (सेंध लगाने वाला), यात्रियों पर डाका डालने वाला, पाकेटमार, स्त्री और पुरुष को ही चुराने वाला, अश्व तथा अन्य पशुओं को चुराने वाला।[3]

---

१. प्रकाशश्चाप्रकाश्च द्विविधास्तस्कराः स्मृताः।
प्रज्ञासामर्थ्यमायाभिः प्रभिन्नास्ते सहस्रधा ॥ बृ० उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३१७।
प्रकाशवञ्चकास्तेषां नानापण्णोपजीविकः।
प्रच्छन्न वञ्चकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ मनु० ९।२५७।

२. मनु० ९।२५८–२६०; ९।२६१–२६६।

३. उत्क्षेपकः सन्धिवेत्ता पान्थमुद्ग्रन्थिभेदकः।
स्त्रीपुंगोश्वपशुस्तेयी चोरो नवविधः स्मृतः ॥ व्यास० उद्धृत स्मृ० चं० २। पृ० ३१८।

चोरों को पकड़ने और उनके पता लगाने के विविध प्रकार उपलब्ध होते हैं। पदचिन्हों तथा चोरी के सामान के आधार पर उनका सरलता से पता लगता है। जो व्यक्ति अपने निवास स्थान का पता नहीं बताता, सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखता हुआ ज्ञात हो, अनुचित स्थान पर रहता हो, पूर्व कर्म से अपराधी हो, जाति आदि छिपाता हो, जुआ, सुरा और सुन्दरी के सम्पर्क में रहता हो, स्वर बदलकर बात करता हो, खर्च अधिक करता हो किन्तु आय के स्रोत का पता नहीं है, खोयी हुई वस्तु या पुराना माल बेंचने वाला है, दूसरे के घर के पास वेश बदल कर घूमता है उसे चोर समझना चाहिए।[1]

पकड़े हुए अथवा सन्दिग्ध चोर के विषय में अत्यन्त सावधानी से परीक्षा करनी चाहिए कि कहीं निर्दोष व्यक्ति तो तस्कर के समान दण्डित नहीं हो रहा है। अपवाद स्वरूप चोरों के चिह्न शिष्ट में घटित हो जाते हैं।[2] चोरी की सम्पत्ति जिसके यहाँ मिले, इस बात की परीक्षा कर लेनी चाहिए कि वह उसे चुराया है, किसी अन्य से मिली है अथवा अस्वामिक समझ कर उसने कहीं से रख लिया है। परीक्षा में सच और झूठ पर विशेष ध्यान देना चाहिए। असत्यभाषी सत्यभाषी की तरह और सत्यभाषी भी असत्य-भाषी की तरह कभी कभी दिखायी पड़ते हैं।[3] चोर के रूप में गिरफ्तार होने पर उसकी परीक्षा करके दण्ड विधान किया जाना चाहिए। दण्ड वस्तु के मूल्य नहीं अपराध की गुरुता और लघुता पर करना चाहिए।[4] स्वर्णकारों

---

१. याज्ञ० २।२६६–२६८। ; नारद० परिशिष्ट ९।१२।
२. कात्या० उद्धृत अपरार्क पृ० ८४१; मिता० याज्ञ० २।२६३ पर।
३. नारद० १।७१। ; शान्तिपर्व ३।६५–६६।
४. नैगमाया भूरि धना दण्ड्या दोषानुरूपतः।
तथा ते न निवर्त्तन्ते तिष्ठन्ति समये तथा॥ व्यास उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३१७।

पर मनु बड़े कठोर हो जाते हैं। उनके अनुसार वे कष्टक हैं। धोखे के अपराध में उनके अंग ही काट लेना चाहिए।[१]

कुछ आपत्कालीन अवस्थाओं में चोरी को वैध भी माना गया है। उस समय जीवन के संरक्षण के लिए व्यक्ति कुछ सीमातक यह अनैतिक कार्य स्वीकार कर सकता है। उसे इसमें दंड का भागी नहीं होना पड़ता। इसमें वह अपनी शक्ति लागू कर सकता है।[२] व्यास के अनुसार इस अवस्था में चोरी भी की जा सकती है। पहले निम्न जाति के यहाँ, पुनः उच्च वर्ण के यहाँ से चोरी द्वारा भी अन्न ग्रहण कर प्राण रक्षा करनी चाहिए।[३] यात्री को भी यह अधिकार प्राप्त है।[४]

वावीलोनिया में चोरी के अपराधी की क्षति-पूर्ति करनी पड़ती।[५] पारस में जुर्माना, जेल और देश निकाला का दण्ड अपराध के अनुसार दिया जाता। अपराध की आवृत्ति पर अंगच्छेद और आवश्यकता पड़ने पर फांसी भी दी जा सकती थी।[६] मोजेक लॉ में चोरी की वस्तु से कुछ गुने जुर्माना अदा करना पड़ता।[७] एथेन्स में पीड़ित की इच्छानुसार चोरी दंडापराध या व्यवहार विचार माना जाता। यदि पीड़ित किसी प्रकार का विवाद नहीं प्रस्तुत करता तो कोई नागरिक ऐसा कर सकता था। दण्ड में जुर्माना, जेल या मृत्यु

---

१. मनु० ९।२९२।
२. शान्ति० १६५।११–१३।; मनु० ११।१६–१८।; याज्ञ० ३।४३।
३. आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टं समहीनतः।
हीनादादेयमादौ स्यात्समाद्वा तदनन्तरम्॥ व्या० उद्धृत स्मृ० चं० १ पृ० १७५।
४. मनु० ८।३४१।; मत्स्य० २२७।११०–११४।
5. Hamm 25, 113, 259, 260.
6. Zorostrian Civilization, ch. XIII.
7. Exod 22.14

होती।[1] रोम में स्वतन्त्र नागरिक चोरी के अपराध में पकड़ा जाय, तो उसे कोड़े की सजा दी जाती; किन्तु दास को पहाड़ की चोटी से ढकेल दिया जाता। अल्पवयस्क भी यदि वह हो तो कम से कम कोड़े की सजा और क्षतिपूर्ति की सजा अवश्य दी जाती। व्यक्तिगत सम्पत्ति की चोरी में पीड़ित की इच्छा पर था कि वह दंडापराध या व्यवहार का विवाद प्रस्तुत करे। रोमन साम्राज्य में चोरी व्यवहार-अपराध माना जाता।[2] मध्ययुगीन फ्रांस में आँख, नाक-विहीन करने एवं देश निकाला या मृत्युदण्ड तक दिया जाता। सामान्य अपराध में कोड़े या जुर्माने की सजा होती।[3] इंग्लैण्ड में हेनरी प्रथम के समय तक १२ पेंस से अधिक मूल्य की वस्तु चुराने के अपराध में मृत्युदण्ड दिया जा सकता था।[4]

भारत से अतिरिक्त देशों में भी डाका और चोरी दो अपराध माने जाते थे। डाका अधिक गम्भीर अपराध था। मोज़ेक लॉ में इसके लिए शारीरिक दण्ड दिया जाता।[5] यही नियम बाबीलोनिया में भी था।[6] एथेन्स में भी शारीरिक दण्ड का नियम था।[7] खयानत (Breach of Trust) या जमा सम्पत्ति के दुरूपयोग (Misappropriation) के अपराध में जमा सम्पत्ति को लौटाने तथा उससे दुगुना जुर्माना देने का नियम बाबीलोनिया में था। कुछ ऐसे अवसर थे जब अंगच्छेद का भी दण्ड दिया जा सकता था।[8] शर्त (Pledge) को न पूरा करने पर मोज़ेक लॉ में मृत्युदण्ड

---

1. Lee : Historical Jurisprudence IX–P. 177.
2. Twelve Table. 8^{14}
3. Continental History of Criminal Law. Part I ch. VI, 39f.
4. Blackstone IV–ch. XVIII PP. 229–241.
5. Ezek. 18^{10}
6. Hamm 23–24.
7. Demonsth III P. 154 Note 3.
8. Hamm 112, 120, 124, 253, 255, 256, 265.

दिया जाता।[1] एथेन्स और रोम में प्रायः प्रतिफल दिया जाता था।[2] इंग्लैण्ड में क्षतिपूर्ति के साथ जेल का भी दण्ड दिया जा सकता था।[3]

बाबोलोनिया और मोज़ेक लॉ में डाका की सजा शारीरिक दण्ड के रूप में दी जाती थी। एथेन्स में पीड़ित व्यक्ति को अधिकार था कि वह डाकू को गिरफ्तार करके 'एलेवन' में प्रस्तुत करे। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ हो तो उसे राज्य से भी सहायता मिल सकती थी। डाकू यदि अपने अपराध स्वीकार कर ले तो उसे तत्काल मृत्यु दण्ड दिया जाता। यदि वह अस्वीकार करता तो उस पर मुकद्दमा चलाया जाता।[4] रोम में इसे सिविल लॉ माना जाता। मध्ययुगीन फ्रांस में शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी। इंग्लिश लॉ में धर्मस्थान, राजगृह में या उसके आस पास डाका मारने पर मृत्यु दण्ड दिया जाता। अन्यत्र ऐसी घटना पर सामान्य दण्ड था।[5] परसियन लॉ के अनुसार यदि डाकू डाका डालने के साथ शरीर पर आघात करता तो उसे मृत्यु दण्ड दिया जाता और यदि केवल डाका ही डालता तो सामान्य दण्ड दिया जाता।[5] बाबीलोनिया में सेंध मारने पर भी मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यही सजा मोज़ेक लॉ में भी थी। किन्तु यदि सेंध के समय सूर्योदय हो जाय तो सामान्य दण्ड दिया जाता। एथेन्स में शारीरिक दण्ड दिया जाता था। इंग्लैंड में सेंध के अपराध में क्लर्जी के निर्णयानुसार दण्ड दिया जाता।

प्रोत्साहन

साहस में प्रयोजक और उत्साहक के लिए भी विभिन्न विधान किये गये हैं। साहस में इस प्रकार के प्रयोजक को दुगुना और पूर्ण सुरक्षा का आश्वा-

1. Ezek 18[12]
2. Demonsth. III App. VIII P. 352.
3. Blockstone IV ch. IX P. 121.
4. Demonsth. III App. VIII P. 350.
5. Blackstone IV ch. XVIII PP. 242, 243.
6. Zorostian Civilisation; Criminal Offences and their punishments. ch. I.

सन देने वाले को चतुर्गुणा दण्ड विधान किया गया।[१] एक को बहुत से व्यक्ति मिल कर मर्मान्तक घाव से मार डालें तो उन्हें मृत्यु दंड, बध-अपराध के समान ही दण्ड देना चाहिए।[२] साहस में विचार के समय इन बातों पर विचार करना आवश्यक है—किसने अपराध प्रारम्भ किया, कौन सहायक हैं, किसने परामर्श दिया, किसने शरण और आवश्यक सामग्री शस्त्र दिया, किसने भोजन आदि दिया, किसने उकसाया, किसने व्यक्ति का परिचय और उसे मारने का प्रकार बताया, सुनकर उपेक्षा कर देनेवाला, दोषवक्तानुमोदक, सामर्थ्य रखते हुए निषेध न करने वाले सभी समान रूप से दण्ड भागी होते हैं।[३] अपराध के प्रारम्भ करने अथवा उकसावा करने पर आधा दण्ड दिया जाता।[४] याज्ञवल्क्य ने एक बृहत्सूची दी है जिसमें ध्यान देने की बात यह है कि वृक्षों, पशुओं, समाज के उपेक्षित वर्गों के साथ किये गये साहस कर्म पर भी उचित दण्ड विधान किया गया है।[५]

धोखा

विवाह में पागल (उन्मत्ता), कोढ़ी (कुष्ठिन्या) और व्यभिचरित (स्पृष्टमैथुना) को उत्तम कन्या के रूप में विवाहित करना अपराध है। इसी प्रकार वर में भी दोष हों और अभिभावक उन्हें छिपा कर विवाह कर दे तो

---

१. यः साहसं प्रतिपत्तेति कारयति स द्विगुणंदद्यात्। यावद्धिरापमुपयोक्ष्यते तावद् दास्यामीति स चतुर्गुणं दण्डं दद्यात्। अर्थशास्त्र ३।१७।
२. वृहस्प० उद्धृत स्मृ० चं० २
३. कात्यायन, उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३१२।
प्रयोजयिता मन्ता कर्त्तेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः। आ० ध० सू० २।२।२९।
४. आरम्भकृत्सहायश्च दोषभागी तदर्धतः। बृह० उद्धृत परा० माध० ३ पृ० ४५५। तुलनीय Indian Penal Code, Section 119,120.
५. याज्ञ० २।२३२–२३७।

उसे भी अपराधी माना जाता। उत्तम कन्या दिखा कर निकृष्ट कन्या का विवाह करना अपराध है और ऐसे विवाह अवैध भी हो सकते हैं; साथ ही अपराध में जुर्माना भी देना पड़ता।[१] उत्तम कन्या दिखा कर निकृष्ट के साथ विवाह करा देने में कौटल्य आदि ने तो जुर्माना ही माना है, मनु ने दोनों कन्याओं के साथ विवाह करा देने का विधान किया है।[२] ज्योतिषी मिथ्या फलादेश से द्रव्य अपहरण करता तो यह चोरी के समान अपराध है।[३] साधु के वेश में जनता को ठगने वाला और शूद्र का ब्राह्मण-वेश धारण करना भी अपराध है।[४] पशु के रोग छिपा कर उसे बेंचना, मिलावट के अलावा रत्नों, मणियों, स्वर्ण आदि का नकल वास्तविक के रूप में बेंचने पर इसमें मूल्य तो क्रेताओं को लौटा दिया जाता और दुगुना जुर्माना राजकोश को विक्रेता देता।[५] धोबी, जुलाहा और दर्जी द्वारा ग्राहक का कपड़ा बदल देना धोखे की कोटि में माने जाते और इनमें क्रेता को मूल्य लौटाने के अतिरिक्त शुल्क दिया जाता।[६]

धार्मिक अपराध

वैदिक काल से स्मृति काल तक धार्मिक अपराधों के रूप और आधार में महान् अन्तर आ गया। वैदिक समाज में धर्म के विभिन्न अंगों, सम्प्रदायों एवं अवैदिक मान्यताओं का व्यापक रूप से प्रसार नहीं हुआ था। प्रारम्भिक

---

१. मनु० ८।९०५। ; ८।२२४। ; कौ० ३।१५।१८८। ; वि० ५।४५। ; मनु० ८।२२५। ; वि० ५।४७।
२. कौ० ४।१३।२२९। ; मनु० ८।२०४।
३. मनु० ९।२५८–२०१। ; बृ० २२।११।
४. बृ० २२।१२।
५. मनु० ९।२२४।
६. कौ० २।५।५८। ; ३।२०।१९८। ; ३।१५।१८८। ; विष्णु० ५।१२४। ; बृ० २२।१३–१४।

वैदिक काल में ऋत के विपरीत किया गया अपराध अनृत कहा गया और उसे स्वीकार करने वाले को महान् दण्ड दिया जाता था। ऋत के समाजीकरण होने पर उसका स्वरूप धर्म के रूप में सामने आया। उसमें विभिन्न सामाजिक मान्यताओं का विकास हुआ। समाज के कितने ही नियम आये। उनका समष्टिगत रूप धर्म माना गया। धर्म के विपरीत किया गया कार्य अधर्म और अपराध माना गया।

ऋत के सामाजिक होने के साथ धर्म पर अवैदिक समाजों का भी प्रभाव था। अवैदिक जातियों एवं उनकी मान्यताओं का भी प्रभाव पड़ रहा था। इसके साथ इस रूप में और स्पष्टता आ जाती है जब अवैदिक समाजों का वैदिक समाज में पर्यवसान हो जाता है। उनके लिए भी सामाजिक-धर्म की स्थापना करनी पड़ती है। फलस्वरूप धर्म में सामान्य और विशेष जैसे विभाग करने पड़े। सामान्य में सत्य, दया, आर्थिक, नैतिक आदि सिद्धान्तों का परिगणन किया गया। विशेष में व्यक्ति की सामाजिक स्थापना के साथ उसके कर्म की व्यवस्था की गई। विशेष धर्म के विशेष नियम भी सामने आए। इनका पालन न करना अपराध माना गया। अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार कार्य न करने पर मृत्यु-दण्ड तक दिया जाने लगा। ज्यों-ज्यों समाज का विस्तार आगे बढ़ता गया इस सिद्धान्त की स्पष्टता आने लगी। सामाजिक धर्म की अवहेलना करने पर शम्बूक को मर्यादापुरुषोत्तम राम ने मृत्यु दण्ड दिया। शम्बूक ने धर्म के उस अंश का ग्रहण किया जिसे तत्कालीन समाज ने उसके लिए निषिद्ध किया था। यह शम्बूक का धार्मिक अपराध था। फलतः राज्य की ओर से उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया।

विभिन्न अवैदिक समाजों के साथ सम्बन्ध होने के साथ वैदिक समाज में उनके सम्मिश्रण के अवसर पर वैदिक समाज के संरक्षण का भाव सदा ध्यान में रखा गया। विशेष धर्म की स्थापना से एक ऐसा व्यापक आधार स्वीकार किया गया जिसमें विभिन्न सामाजिक संघटनों की धार्मिक सीमा और व्यवहारों की सूची प्रस्तुत की गई। उनका संहिताबद्ध रूप धर्मशास्त्र है

अन्ततः परवर्त्ती काल में धर्मशास्त्रों के विपरीत किया गया कार्य अपराध माना गया। धर्मशास्त्रों ने धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विधि निषेध की सूची प्रस्तुत की जिसमें अपराधों का व्यापक परिगणन सामने आया। इसके साथ एक और समस्या थी—अवैदिक सम्प्रदायों का जन्म। बौद्ध एवं जैन जैसे सम्प्रदायों के उद्भव से अपराधों के साथ एक नया रूप सामने आया। इससे धर्मशास्त्रों की सूची पर और बल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि परवर्तीकाल में धर्मशास्त्रों को ही अपराध का आधार मान कर धर्मशास्त्रों के विपरीत किया गया कार्य धार्मिक अपराध माना गया है।

विश्व के धार्मिक संघटनों में संघर्ष होने से धार्मिक साम्प्रदायिकता चलती रही। सम्प्रदाय विशेष के हाथ में राजसत्ता आने पर अन्य सम्प्रदायों के व्यवहार धार्मिक अपराध मान लिये जाते और उन्हें समूल नष्ट करने के लिए उच्च-नीच सर्वविधि प्रयास किये जाते। भारत में ऐसा कभी नहीं हुआ। धर्म की नयी व्याख्या करने वालों को पूर्ण सुविधा थी। जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन वाले भी व्यवहार में समान स्तर रखते थे। वैष्णव राजाओं के मन्त्री बौद्ध रहे हैं। वस्तुतः भारत में धार्मिक अपराधों में धर्म-विशेष की अवमानना करना भी आ जाता है। हिन्दू राज्य में कोई अहिन्दू धर्मावलम्बी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता था न तो उसके पुण्य पुरुषों तथा स्थानों को अपमानित कर सकता था। किसी भी प्रकार की धार्मिक मान्यता में विश्वास और पालन की पूर्ण सुविधा थी। राज्य द्वारा उन्हें पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। वस्तुतः राज्य धर्म नहीं व्यक्ति एवं समाज के लिए रहा है। व्यक्ति एवं समाज के लिए धर्म अनिवार्य साध्य और साधन माना गया। अतएव राज्य को धर्म सापेक्ष बनना पड़ा; क्योंकि धर्म से अतिरिक्त उसका अस्तित्व व्यक्ति एवं समाज से परे हो जाता जब कि राज्य उनके लिए ही था। फलतः राज्य धर्म प्रतीकों की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी था।[१]

---

१. मनु० ९।२८०।

मन्दिर नष्ट करने वाले को मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था। मूर्तिभंजक को ५०० पण अथवा उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता।[१] मूर्ति चुराना, बेंचना और अपमानित करना भीषण अपराध माना जाता। एथेन्स में इस अपराध पर मृत्यु-दंड, देश निकाला या जुर्माना देना पड़ता।[२] मनु के अनुसार पाषण्डियों को देश से निकाल देना चाहिए।[3] पाषण्डी के दो तात्पर्य थे अवैदिक सम्प्रदाय का साधु अथवा धर्मवंचक। धर्म ढोंग करने वाले को पाषण्डी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। मान्य दर्शन के विपरीत नये दर्शन के प्रतिपादन पर भी एथेन्स में मृत्यु दण्ड, देश निकाला अथवा जुर्माना देना पड़ता।[४] रोमन साम्राज्य में ईसाई धर्म प्रचारकों को सिंह के सामने फेंका गया।[५] यह स्थिति गणराज्य के काल तक चलती रही।[६] युरोप का मध्य युग धर्म के नाम पर प्रवाहित रक्तपात से नैतिकता में काला अध्याय प्रस्तुत करता है। भारत में किसी भी देवता, महापुरुष को अपशब्द कहने पर भी दण्ड दिया जाता।[७]

समाज द्वारा निर्णीत मान्यता का कार्यान्वयन राज्य का कार्य का था। समाज अपनी मान्यता में परिवर्तन कर सकता था लेकिन राज्य उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। शूद्रों के लिए समाज में जो स्थान निश्चित किये गये थे, राज्य उनका कार्यान्वयन करता रहा। गौतम के अनुसार शूद्र वेद मन्त्रों का उच्चारण और श्रवण नहीं कर सकता था। ऐसा करने पर उसे जिह्वा और कान से हाथ धोना पड़ता। मनु और याज्ञवल्क्य इस

---

१. मनु० ९।२८९।; वि० ५।१७४।
2. Demo III App. VIII–PP. 346–348.
३. मनु० ९।२२५।
4. Zorostian Civilization.
5. Demon. III App. VIII P. 347.
6. Continental History of Crminal Law. Part I ch. 16.
७. याज्ञ० २।२११।; कौ० ३।१८।१९४।

पर कुछ निर्देश नहीं करते। बृहस्पति उक्त मत का समर्थन करते हैं।[१] फलतः राज्य इन विधानों का कार्यान्वयन करता है।

उत्तरवर्त्तीकाल में भोजन, पान आदि धर्म के मुख्य अंग हो गये थे। इस स्थिति में अपवित्र वस्तु खिलाकर किसी को दूषित करना अपराध था। ब्राह्मण को दूषित करने पर उत्तम, क्षत्रिय को दूषित करने पर मध्यम, वैश्य को प्रथम और शूद्र को दूषित करने पर २५ पण दण्ड दिया जाता।[२] विष्णु के अनुसार ब्राह्मण को सुरापान करा कर भ्रष्ट करने के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था।[३] शूद्र द्विजाति को जान कर स्पर्श द्वारा भ्रष्ट करता है तो उसे मृत्यु दण्ड भागी होना पड़ता।[४] याज्ञवल्क्य और कौटल्य इस अपराध पर जुर्माने का समर्थन करते हैं।[५] यज्ञोपवीत आदि द्विजातियों के चिन्ह धारण करने पर शूद्रों को शारीरिक दण्ड दिया जाता।[६] कौटल्य इस अपराध में एक आँख फोड़ने अथवा ८०० पण का दण्ड विधान करते हैं। याज्ञवल्क्य केवल ५०० पण जुर्माना ही मानते हैं।[७]

प्राचीन विश्व में भूत-प्रेत का सम्बन्ध विधिशास्त्र से भी होता रहा है। कोई व्यक्ति किसी पर चुडैल का प्रकोप करा कर मार डाले तो बाबीलोनिया में मृत्यु दण्ड दिया जाता था। विभिन्न देशों में चुडैलों को जलाने में स्त्रियों को भी जला दिया जाता। मोज़ेक विधि में चुडैलों के जलाने का विधान था। ऐसे प्रयोग करने वालों को एथेन्स में मृत्यु-दण्ड दिया जाता। रोम और मध्ययुगीन फ्रांस में भी जादूगरों पर कठोर नियन्त्रण लगाया गया।

१. गौ० १२।४–५।; बृ० २०।१२।
२. कौ० ४।१३।२२२।; याज्ञ० २।२९६।
३. म. पु. ५।९८–१०३।
४. वि० ५।१०४।
५. याज्ञ० २।२३४।; कौ० ३।२०।१९९।
६. मनु० ९।२२४ और २६०।
७. कौ० ४।१०।२२५।; याज्ञ० २।३०४।

इंग्लैण्ड में विना क्लर्जी से पूछे ही चुडैलों तथा उनके प्रयोक्ताओं को जला दिया जाता।[१] भारत भी इस व्यवस्था का शिकार था।

मनु के समय में तान्त्रिक अभिचारों का चमत्कार व्यापक हो रहा था। उससे ढोंगियों द्वारा प्रजा का नैतिक ह्रास हो रहा था। अभिचार का मूल वामाचार के पंचमकार से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध रहता है। स्मृतियों ने अपने पूर्ववर्ती श्रुतियों के वामाचार से सम्बद्ध प्रत्येक अंश का वहिष्कार किया। मनु ने सभी प्रकार के अभिचार का निषेध किया और उसे अपराध माना। कुल्लूकभट्ट ने अभिचार से तात्पर्य लौकिक और शास्त्रीय दोनों माना है।[२] पश्चिम के चुडैलों का सम्बन्ध मनु के अभिचार से नहीं है। मनु तथा धर्मशास्त्रकारों ने किसी को चुडैल समझ कर उसे जलाने का विधान नहीं किया क्योंकि वह स्थिति असत्य कल्पना-मात्र ही है। अभिचार का प्रायोगिक और दार्शनिक आधार था। उसके विपरीत स्मृतियों ने विरोध प्रस्तुत किया। दूसरी ओर अभिचार के आधारभूत तान्त्रिक ग्रन्थों ने वेद तथा स्मृतियों को वेश्या कहा है, क्योंकि वे 'गुह्य' नहीं सार्वजनिक हैं। किसी को अभिचार से मृत्यु होने से पूर्व प्रयोक्ता पर जुर्माना आदि का विधान था किन्तु प्रयोग के कारण मृत्यु हो जाने पर मृत्यु-दण्ड ही विहित है।[3] वृहस्पति देश निकाले का विधान करते हैं।[४]

---

1. Hamb. 2.
   Exd. 2.
   Demons. III App VIII P. 350.
   Continental Criminal Law, Part I ch. VI 39f.
   Blackstone, IV ch. IV PP. 60-61.
२. मनु० ९।२९०।
३. मनु० ९।२९० पर कुल्लूक।; कौ० ४।१३।२३।
४. वृ० २२।१६।

पशुओं के अपराध

पशुओं से होने वाले अपराध का उत्तरदायित्व मालिक पर था और राज्य को जुर्माना भी देना पड़ता।[१] यदि क्षेत्र या चरागाह मार्ग में पड़ता, पशु देव समर्पित और सकृत्प्रसूता गाय से क्षति हो जाय तो उसे अपराध नहीं माना जाता।[२] क्षति होने में पशुपालन का उद्देश्य है तो उसे जुर्माना देना पड़ता किन्तु यदि क्षेत्रपति ने भी क्षेत्र रक्षा में असावधानी की और पशु उस स्थिति में अनायास ही अपने स्वामी के प्रतिबन्धों के उपरान्त क्षेत्र में जा सकता तो पशुपालक के स्थान पर क्षेत्रपति ही अपराधी माना जाता। उक्त स्थितियों के अतिरिक्त अन्य स्थिति में पशुपालक ही उत्तरदायी होता।[3] क्षति करने वाले पशुओं के अनुसार गाय, ऊँट, अश्व आदि के जुर्माने में अन्तर पड़ता।[४] पशु यदि क्षति करके उसी क्षेत्र में बैठता और सोता भी है तो अपराध दुगुना हो जाता।[५]

लेकिन क्षेत्र में से पशु को निकालने में उसे बुरी तरह पीटा नहीं जा सकता था।[६] भूखे एवं प्यासे के साथ दुर्व्यवहार करने पर गो-हत्या जैसा अपराध माना जाता।[७] पशुओं को किसी प्रकार का कष्ट देना

---

१. मनु० ८।२४१।; वि० ५।१४६।; याज्ञ० २।१६१।
२. गौ० १२।; मनु० ८।२३८ और २४२।; वि० ५।१४७।; कौ० ३।१०।१७२।; याज्ञ० २।१६२, ३।
३. मनु० ८।२३८–२४१।; गौ० १२।१९–२१।; वि० ५।१४०–१४१।; या० २।१६१।
४. गौ० १०।२२–२४।; याज्ञ० २।१५९।; वि० ५।१४२–१४४।; कौ० ३।१०।१७२।
५. वि० ५।१४५।; याज्ञ० २।१६०।; कौ० ३।१०।१७२।
६. कौ० २।९।१७३।
७. बृ० २१।१६।

अपराध माना जाता।[1] पशु की हत्या सर्वथा निषिद्ध थी। धार्मिक विधियों में पशुबलि-निषेध माना गया।[2] कौटल्य ने संरक्षित जंगलों में आखेट का निषेध किया। इसमें धार्मिक उद्देश्य भी सम्मिलित था।[3] जंगली पशुओं के उत्पात की सूचना जंगल के अधिकारी को देना चाहिए, उन्हें समाप्त या कष्ट न देना चाहिए।[4]

राज्यद्रोह

शेष अपराधों को तीन भागों में विभक्त कर विचार करना ठीक होगा। (१) मृत्यु दण्ड सम्बन्धी (२) शारीरिक दण्ड सम्बन्धी (३) अर्थ दण्ड सम्बन्धी। राजा पर आक्रमण करना ब्रह्महत्या से भी बढ़ कर अपराध माना गया है।[5] राजा, दुर्ग, कोश, सेना आदि राज्य की प्रकृतियों के प्रति शत्रु भाव रखने वाले को जिन्दा अग्नि में जला देना चाहिए।[6] राजपरिवार का व्यक्ति भी उक्त अपराध में समान दण्ड भागी होगा।[7] बृहस्पति राजा के प्रति शत्रु भाव रखने वाले को देश-निष्कासन का ही दण्ड देते हैं।[8] बृहस्पति का उद्देश्य राज्यद्रोह में संल्लग्न व्यक्ति के लिए नहीं अपितु भाव मात्र वाले व्यक्ति के लिए ज्ञात हो रहा है। अन्य देशों में तो बड़े कठोर दण्ड थे। बाबीलोनिया में राज्यद्रोह पर मृत्यु दण्ड दिया जाता था।[9]

---

१. मनु० ८।२८६।
२. वि० ५।५२–५४।
३. कौ० २।२६।१२२।
४. कौ० ५।१०।१७३।
५. नारद १५ और १६।
६. मनु० ९।२७५।; कौ० ४।११।२२७।; मत्स्य १८५।
७. विष्णु ७।१८।१९।; ५।१४।
८. बृहस्पति १७।१६।
9. Hammurabi.

परसिया में भी इसी प्रकार का दण्ड था।[१] रोमन लॉ में राज्य के विपरीत सोचने के लिए रात्रि में एकत्र होना भी मृत्यु दण्ड का कारण होता। गणतन्त्र में सभा और सदस्य राजा के स्थानापन्न बन गये थे। साम्राज्य विस्तार के अवसर पर सम्राट् के विपरीत सोचना भी अपराध माना गया।[२] एथेन्स में ऐसी सजा विद्रोह की भावना रखने, सहायता तथा अवसर देने वाले को भी दी जाती।[३] मध्य-युगीन फ्रान्स में सन्दिग्ध व्यक्ति द्वारा अपराध अस्वीकार करने पर भी फ्रान्स की विशेष विधि में मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।[४]

प्राचीन भारत में राजा के प्रति विद्रोह भाव, शत्रुता रखने तथा विद्रोह को बढ़ावा देने वाले को शारीरिक दण्ड दिया जाता।[५] रानी के प्रति अमानुषिक व्यवहारों पर मृत्यु-दण्ड का विधान था।[६] राज्य के हाथी, अश्व, अस्त्र-शस्त्र आदि को ध्वस्त करने का प्रयत्न करना भी राजद्रोह के ही समान माना गया।[७] राजा को गाली देने में जिह्वा छेदन करना आवश्यक था।[८] याज्ञवल्क्य ने अंगच्छेद के स्थान पर देश निकाला या जुर्माने का विकल्प लगा दिया।[९] परवर्ती काल में राजतंत्र के विकास के साथ दण्ड में भी अन्तर आ गया। नारद और कात्यायन ने गाली के अपराध में मृत्यु

---

1. Dhalla : Zorostean Civlization; ch. I Criminal Offences and their punishments.
2. Twelve tables, 825.
3. Demons : Vol. III App. VIII PP. 338-340.
4. Continental Criminal Law Part I ch. VI 39f.
५. मनु० ९।२३२ और २३५।; कौ० ४।२२७।
६. याज्ञ० २।२८२।; कौ० ४।१३।२३४।
७. मनु० ९।२७५ और २८०।
८. कौ० ४।११।२२८।
९. याज्ञ० २।२२१ और ३०२।

दण्ड का भी विधान किया है।[1] इङ्गलैण्ड में सीधे शारीरिक दण्ड ही मुख्य था।[2] राजा को धोखा देने और उसकी गुप्त मन्त्रणा प्रकाशित करने के अभियोग में अंगच्छेद का दण्ड दिया जाता। याज्ञवल्क्य ने इसमें देश निकाला का दण्ड माना है।

युरोप की प्राचीन और मध्ययुगीन व्यवस्था में बड़े कठोर दण्ड दिये जाते रहे। व्यक्ति को टुकड़े टुकड़े कर देने के अतिरिक्त अग्नि सात कर दिया जाता था। फ्रांस में मध्ययुगीन एवं परवर्ती काल और इङ्गलैण्ड के आधुनिक युग के पूर्व तक यह परम्परा चल रही थी। इङ्गलैण्ड में कुछ शताब्दि पूर्व तक मृत्यु-दण्ड में व्यक्ति को फांसी लगा कर लटका दिया जाता था। अर्ध जीवितावस्था में उतार कर उसकी अतड़ियां निकाल कर जला दी जातीं। शेष अंग चार टुकड़ों में काट डाला जाता। उक्त प्रक्रिया राजा की इच्छा पर किसी स्थल पर की जा सकती थी।[3] एथेन्स और फ्रांस में पिता के अपराध का दण्ड उसके पुत्र को भुगतना पड़ता। अपराधी के परिवार की सम्पत्ति अपहृत कर उसे भिक्षाटन के लिए बाध्य कर दिया जाता। फ्रांस में पिता को मृत्यु दण्ड देने और सम्पत्तिहरण से ही राज्य को सन्तोष नहीं होता था। मृत्यु-दण्ड के बाद अपराधी के पुत्रों को घुलघुल कर मरने के लिए बाध्य कर दिया जाता।[4] एथेन्स में अपराधी को मृत्यु दण्ड देकर उसका शव देश के बाहर फेंक दिया जाता और दफन न किया जाता। उसके घर को ध्वस्त कर बंजर बना दिया जाता।[5] रोम में तो

१. नारद० १८।
2. Blackstone IV ch. IX P. 22.
3. Black : Bk. IV ch. VI P. 92. Quotted by R. Dasgupta; Crime and Punishment in Ancient India, Bk. II P. 2.
4. Continental History of Criminal Law; Part I ch. VI 39f.
5. Orations of Demonsthenese; vol III App.. VII PP. 339-40; Translated bay Charls R. Kennedy (1856); Vol III is specially important for the study of Athenian Criminal Law.

जनता की इच्छानुसार सार्वजनिक नाट्य-भवन में जंगली पशुओं द्वारा जिन्दे ही खिला दिया जाता।[1] उक्त दण्ड राज्य अपराध पर दिये जाते। राज्य एवं राजा के विपरीत क्रिये अपराधों की ४० संख्या शुक्र ने दिया है। लेकिन उनमें युरोपीय क्रूरता का अभाव पाया जाता है। वास्तविकता तो यह है कि भारतीय परम्परा में राजा और जनता का सम्बन्ध पश्चिम से भिन्न रहा। राजद्रोह के अपराध में भी राजा अपनी इच्छा के अनुसार नहीं शास्त्र के अनुकूल दण्ड देता था। शास्त्रों के संरक्षक (The Guardian of the Constitution) राजा नहीं ब्राह्मण थे। उन्हें ही व्याख्या का अधिकार था। राजा की स्वेच्छाचरिता पर वे स्वयं शस्त्र ग्रहण करने को प्रस्तुत थे। राज्यविप्लव की स्थिति आ सकती थी। फलतः पश्चिम की निरंकुश राजशक्ति का स्वरूप भारत में नहीं था।

सामाजिक अपराध

असत्य साक्ष्य, साक्षीत्व में विश्वासघात आदि अपराध माने गये हैं। ऋणादि की झूंठी मांग पर व्यक्ति दण्ड भागी माना जाता।[2] किसी की वस्तु चोरी गयी हो और वह दूसरी की वस्तु को अपनी समझ कर पक्ष प्रस्तुत करता है तो अप्रमाणित होने पर उसे दण्ड मिलता।[3] न्यायालय की आज्ञा का उल्लंघन अथवा उसके बुलावे की उपेक्षा करना अपराध रहा है। यह नियम वादी प्रतिवादी के साथ साक्षी आदि पर भी लागू होता था।[4] ग्राम में डाका पड़े तो सभी नागरिक का कर्त्तव्य था कि वे डाकू का सामना करें। इसमें जो सम्मिलित न हो उसे देश निकाला तक का दण्ड दिया जा सकता था।[5]

---

1. Justinian Bk. IV Title XVIII P. 3 Quotted by R. Dasgupta Bk. II P. 3.
२. मनु० ८।२८५।
३. मनु० ८।२८६।
४. बृहस्पति० २।३५।; ७।३१।; मनु० ८।१०७।
५. मनु० ९।२७४।

कौटल्य तो जुर्माना के साथ देश निकाला तक के दण्ड की आज्ञा देते हैं।[१] चोरी में सहायता देना तो दण्ड्य था ही, साथ ही उसके उन्मूलन में उपेक्षा करना भी अपराध माना गया।[२] किसी पर आरोप लगा कर उसे प्रमाणित न करने और न्यायालय में चुप हो जाने पर दण्ड दिया जाता।[3] राजकर्मचारियों की अनवधानता से डाका, लूट, हत्या आदि की घटनाएँ हो जायँ तो वे भी कठोर दण्ड के भागी होते थे।[४] चोर, डाकू, व्यभिचारी को गिरफ्तार करके छोड़ देने पर कर्मचारी को दण्ड दिया जाता।[५] जेल से कैदी के भागने में सहायता देने के अपराध में कर्मचारी की सम्पत्ति छीन कर उसे मृत्यु दण्ड तक दिया जा सकता है।[६] हिरासत में लिए व्यक्ति के छोड़ने पर भी दण्ड दिया जाता।[७] पवित्र साक्षी पर मिथ्यारोप में आरोपक को विवादग्रस्त सम्पत्ति के बराबर ही जुर्माना देना पड़ता।[८] घूस लेकर अनुचित निर्णय करने पर न्यायाधीश की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती।[९] न्यायालय के कर्मचारी अनुचित शब्द न्यायार्थी तथा तत्सम्बन्धी को देते तो उन्हें पदच्युत कर दिया जाता।[१०]

---

१. कौ० ४।१२।२३०।
२. विष्णु० ५।७४।
३. मनु० ८।५८।
४. कौ० २।५।५९।; ४।९।२२३–२२४।
५. याज्ञ० २।२९५।
६. कौटल्य० ४।९।२१४।
७. कौ० ३।२२।१९९।; याज्ञ० २।२४३।
८. वृहस्पति० ७।२४।
९. मनु० ९।२३४।; विष्णु० ५।१९५ और १८०।; याज्ञ० २।४ और ३०८।; वृ० २२।१०।
१०. विशेष द्रष्टव्य; धर्मस्थीय प्रकरण।

बाबीलोनिया में घूस लेने पर जज को पदच्युति और घूस का १२ गुना जुर्माना देना पड़ता।[१] एथेन्स में मृत्यु दण्ड अथवा १० गुना जुर्माने का नियम था।[२] फ्रांस में पदच्युति और जुर्माने का नियम था।[3] इंग्लैण्ड में पदच्युति, जेल, जुर्माना और नजरबन्दी का दण्ड दिया जाता।[४]

व्यक्ति समाज और समाज व्यक्ति के लिए पूरक हैं। अति सामाजिक स्वत्वों के विकास और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अतिरेक से कल्याण एकांगी हो जाता है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था में दोनों सन्तुलित आधार पर स्थिर हों और उनमें आने वाली बाधाओं को दूर करने लिए राज्य साधन के रूप में रहा है। व्यक्ति समाज की मान्यताओं, शान्ति एवं सुव्यवस्था भंग का प्रयास नहीं कर सकता। इसके लिए छोटी छोटी बातों पर भी ध्यान देना पड़ता था। निश्चित स्थान से अतिरिक्त स्थान पर कुत्ते, बिल्ली, सर्प आदि के शव फेंकने पर ३ पण; गधे, ऊँट तथा अन्य बड़े पशुओं के शव फेंकने पर ६ पण और मनुष्य के शव को फेंकने पर ५० दण्ड दिया जाता।[५] निश्चित स्थान से अन्यत्र शव गाड़ने पर भी १२ पण दण्ड दिया जता।[६] भारत से कठोर नियम रोम और पारस में पाये जाते थे।[७]

वस्तु में मिलावट करने, द्रव्य और मणियों को नष्ट करने पर वस्तु के अनुपात से दण्ड दिया जाता।[८] इंग्लैण्ड में शराब में मिलावट करने पर कड़ा दण्ड था।[९] अस्वास्थ्य और निषिद्ध वस्तुओं के बेचने पर भारत में

1. Hamm. 5.
2. Demonsth. III App VIII P. 343.
3. Continental History of Criminal Law. Part I ch. VI 39f.
4. Blackstone IV ch. X PP. 140-141.
५. कौ० २।३४।१४५।
६. कौ० २।२४।१४५।
7. R, Dasgupta : Crime and Punishmentoin In Ancient India P. 320.
८. मनु० ९।२८६।; कौ० ४।२।२०४।; याज्ञ० २।२४५।
9. Blackstone; IV ch. XIII P. 162.

कठोर दण्ड दिया जाता।[1] नरमांस विक्रय पर ९०० पण का जुर्माना अदा करना पड़ता।[2] मरे हुए पशु, विहित स्थान से अतिरिक्त स्थान पर मारे पशु तथा सड़े मांस के विक्रय पर १२ पण दण्ड दिया जाता।[3] सभी अंगों का मांस नहीं बेंचना पड़ता। शव के कपड़े चुरा कर बेंचने पर ६०० पण अथवा उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता।[4] जलाशय तथा जल स्रोतों के पास शौचालय या मूत्रालय बनाने में दण्ड भागी होना पड़ता। तालाब, कूप आदि को गन्दा करना उससे भी बड़ा अपराध माना जाता।[5] इसी प्रकार राजमार्ग, मंदिर, राजभवन, तीर्थस्थान आदि गन्दा करने पर जुर्माना देना पड़ता।[6] रुग्ण, स्त्री, वृद्ध और बालक आदि को उक्त दण्ड नहीं दिये जाते।[7] उक्त अपराधों की दशा तथा व्यक्ति की मनोवृत्ति के अनुसार जुर्माने में न्यूनाधिक्य सम्भव था।[8] सार्वजनिक सम्पत्ति और स्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना सामाजिक अपराध के साथ राज्य सम्बन्धी भी अपराध माना जाता।

यातायात सम्बन्धी अपराधों में व्यक्ति की जानकारी, विवशता आदि पर ध्यान दिया जाता। यान द्वारा दुर्घटना होने पर १० हेतुओं पर ध्यान देकर दण्ड देना पड़ता। यान का कोई अंग भग्न हो जाय, विषम भूमि हो, अप्रत्याशित ढंग से पशु पक्षी सामने आ जाय, पशुओं के रज्जु आदि बन्धन टूट जायँ, अगल-बगल हल्ला होने से पशु भड़क जाय आदि कारणों से घटित

---

१. विष्णु ५।१७४।
२. कौ० ३।२६।१२२।; ४।१०।२२६।
३. विष्णु ५।१४९।; याज्ञ ० २।२९७।
४. कौ०।१०।२२५।; याज्ञ० २।३०३।
५. विष्णु ५।१०६।; कौ० २।३६।१४५।
६. मनु० ९।२८१–२८३।; कौ० २।३६।१४५।
७. मनु० ९।२८२–२८३।
८. कौ० ३।१०।१७१।; वृ० १९।२८।

दुर्घटना में सारथि को दण्ड नहीं दिया जाता।[1] अन्य स्थितियों में सारथी अथवा रथ स्वामी को जुर्माना अदा करना पड़ता।[2] पशुओं द्वारा आघात होने पर पशु या विषधर सर्प एवं हानिप्रद अन्य वस्तु फेंकने पर दण्ड दिया जाता। इनमें यदि स्वामी का सहयोग है तो अवश्य दण्डित होगा।[3] बाबीलोनिया में हिंसक पशुओं के हिंस्र अंगों का छेदन करके रखना चाहिए, जैसे मारनेवाले बैल की सींग। ऐसा न करने पर दुर्घटना का उत्तरदायित्व स्वामी पर माना जाता। पारस में पशु ही अपराध के लिए उत्तरदायी होता। पागल कुत्ता बिना भूके किसी को काट ले तो उसका कान लेना चाहिए। यदि वह पुनरावृत्ति करता है तो पाँव आदि दण्ड स्वरूप काट लेना चाहिए। मोज़ेक लॉ में भी पशु ही अपराध के लिए उत्तरदायी था। अपराधी पशु का मांस भी नहीं खाया जाता। एंग्लो सेक्शन लॉ के अनुसार अपराधी पशु को:पीड़ित के हाँथ सौंप देने से स्वामी मुक्त हो जाता।

मुद्रा नाप तौल

मुद्रा और नाप-तौल सम्बन्धी अपराध के निवारण पर राज्य विशेष ध्यान रखता था। नकली और खोटे सिक्के के प्रयोग और ढालने पर जुर्माना तथा देश निकाला तक किया जा सकता था।[4] एथेन्स में तो इस पर मृत्यु दण्ड तक होता था।[5] यही दण्ड रोमन साम्राज्य में भी था।[6] मध्ययुगीन फ्रांस में आँख निकलवाना, खौलते कड़ाहे में डलवा देना अथवा मृत्यु-दण्ड

---

१. मनु० ८।२९०–२९२।
२. मनु०।८।२९३–२९८।
३. नारद १५–१६।; कौ० ३।१९।१९७।; याज्ञ० २।२२४।
४. याज्ञ० २।२४०।; कौ० ४।४।२१०।
5, Demonsth; III App PP. 342–343.
6. Encyclopaedia of Religion and Ethics; IV Crimes and Punishments (Roman).

की व्यवस्था थी।[1] खोटे सिक्के के प्रयोग पर ढालने की अपेक्षा कम दण्ड था।[2] विश्व की प्राचीन राज्य संस्थाओं में प्रायः मुद्रा का प्रसारण राज्य का कार्य नहीं था। भारत में गणों को मुद्रा ढालने का अधिकार था किन्तु राज्य का नियन्त्रण अनिवार्य था। राज्य नाप-तौल पर भी नियन्त्रण रखता था।[3] व्यापार सरकारी नहीं था किन्तु बाजार, मूल्य, वस्तु, नाप-तौल आदि पर राज्य का कठोर नियन्त्रण था। बटखरे राजचिह्न अंकित होने पर ही प्रमाणित माने जाते और ६ मास पर राज्य द्वारा उनकी परीक्षा की जाती। राज्य चिह्न विहीन बटखरे रखना अपराध माना जाता और जुर्माना अदा करना पड़ता।[4] जाली बटखरे के प्रयोग में मध्ययुगीन फ्रांस में अँगूठे काटने का दण्ड दिया जाता रहा है।[5]

शरारत

शरारत से किसी के द्रव्य या वस्तु नष्ट करने पर क्षतिपूर्त्ति के साथ वस्तु के मूल्य के बराबर जुर्माना देना पड़ता।[6] पशुओं, हस्ति आदि को चोट पहुँचाने पर क्षतिपूर्त्ति और औषधि-व्यय प्रस्तुत करना पड़ता।[7] कूप, तालाब, बाँध आदि नष्ट करने के अपराध में मृत्यु-दण्ड तक दिया जा सकता था।[8] यदि वे सूखे हैं और उन्हें नष्ट किया जाता है तो अपराधी को कम दण्ड दिया जाता।[9] सीमा तोड़ने में अंगच्छेद पुराना और जुर्माना बाद का

1. Continental...ch. vi 39f.
2. Blackstone. iv. ch. vi. P. 83.
३. कौटल्य० ४।१।२०१; याज्ञ० २।२४०।
४. वशि० १९।१३।; मनु० ८।४०३।; कौ० २।१९।१०५।; ४।२।२०३।
5. Continental History of Criminal Law. i. ch. vi. 39f.
६. मनु० ८।२८८।
७. मनु० ८।२८६।; याज्ञ० २।२२५–२२६।
८. मनु० ९।२८१।; वि० ५।१५।
९. कौ० ४।११।२२७।

नियम था।[१] क्षेत्र में आग लगाने में मृत्यु-दण्ड तक का विधान था।[२] इस अपराध में स्त्री अपराधी को अंगच्छेद और उसके बाद मत्त सांड़ के सामने रख दिया जाता और उसके द्वारा मृत्यु के मुख में जाना पड़ता।[3] वृक्षों को ध्वस्त करने वाले को वृक्षों की योग्यता के अनुसार दण्ड दिया जाता।[४] औद्योगिक वस्तुओं को नष्ट करने पर क्षतिपूर्ति के अतिरिक्त राज्य को वस्तु का ५ गुना जुर्माना देना पड़ता।[५] यदि अब्राह्मण दूसरे की भूमि पर अधिकार जमा लेता है तो उसे दण्ड दिया जाता। इस अपराध में कौटल्य ने जाति भेद नहीं किया है।[६]

जालसाजी

राजकीय चिह्नों या वैयक्तिक प्रलेखों के साथ जाल करने पर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।[७] बाद के विधायकों ने मध्यम साहस जुर्माना आदि का दण्ड देकर मृत्यु-दण्ड रद कर दिया।[८] अनुज्ञप्ति (Licence) के विना नमक बनाना, साधुओं को छोड़कर, दण्ड माना जाता। राज्य द्वारा नियन्त्रित वस्तु के निर्यात करने पर दण्ड दिया जाता।[९] यदि उसमें सैनिक सामग्री, मुद्रा, बहुमूल्य पत्थर आदि का निर्यात किया जाता तो अधिक गम्भीर अपराध माना जाता।[१०] बहुत-सी वस्तुओं का मूल्य राज्य द्वारा निश्चित होता था।

---

१. मनु० ९।२९१; याज्ञ० २।१५५; कौ० ४।११।२२८; वि० १७२।
२. कौ० ४।११।२२८; वि० ५।९–११।
३. कौ० ४।११।२२८; याज्ञ० २।२७९।
४. मनु० ८।२८५; वि० ५।५५-५९; कौ० ३।१९।१९७; याज्ञ० २।२२७-२२९।
५. मनु० ८।२८८, २८९।
६. मनु० ८।२६४; कौ० ४।१०।२२६।
७. मनु० ९।२३२; वि० ५।९–१०।
८. याज्ञ० २।२४०।
९. मनु० ८।३९९।
१०. कौ० २।२१।१११।

उससे अधिक मूल्य लेने पर गलत मुनाफे के आधार पर जुर्माना किया जाता।[१] यदि अपने माल की खपत या सस्ते भाव की दृष्टि से विदेशी माल का व्यापारी बहिष्कार करते हैं और उन्हें राज्य स्वीकार करता है तो उन्हें उत्तम साहस दण्ड दिया जाता।[२] इस उद्देश्य से यदि किसी प्रकार के व्यापारी संघटन हों तो राज्य तत्काल उन्हें समाप्त कर दे।[३]

सेवा की अवज्ञा

स्वामि-सेवक का विवाद प्रायः दोनों के मध्य हुए समझौते पर किया जाता है। चरवाहे और हलवाहे अपना काम नहीं पूरा करते तो उनको पीटना चाहिए।[४] निश्चित समय तक काम न करके छोड़ देना या वेतन लेकर काम नहीं करना जुर्माना का कारण बन जाता।[५] समझौता के बाद सेवक काम नहीं करता और वेतन नहीं लिया रहता तो क्षति-पूर्ति का ही दण्ड दिया जाता।[६] यदि वह अपने स्थान पर किसी को भेजता है तो वह अपराधी नहीं माना जाता।[७] समय से पूर्व कार्य करने के अपराध में स्वामी पूरा वेतन और राजकोश में जुर्माना अदा करता।[८] मूल्य लेकर क्रेता के पास सामान न पहुँचाने पर भी दण्ड दिया जाता।[९] समझौता करके दूसरे

१. कौ० ४।२।२०५।; याज्ञ० २।२४९।
२. वि० ५।१२५।; याज्ञ० २।२५०।
३. कौ० ४।२।२०४।
४. आपस्तम्ब० २।११।२८।२–३।
५. वि० ५।१५३–१५४।; कौ० ३।१४।१८५।
६. याज्ञ० २।१९३।; बृ० १६।१४, १६।
७. कौ० ३।१४।१८५।
८. वि० ५।१५७–१५९।; अग्नि पु० २२७।१–१७।; कौ० ३।१३।१८४।
९. कौ० ६।१५।१८८।; वि० ५।१२७–१२८।

को वस्तु दे देने पर भी जुर्माना देना पड़ता।[१] समझौते का नियम वेश्या तक के साथ चलता था।[२]

स्थानीय संगठनों की सुरक्षा पर राज्य अधिक ध्यान देता रहा है। यदि कोई सदस्य नियम का पालन नहीं कर रहा है तो उसे देश निकाला का दण्ड दिया जाता।[३] यदि ऐसा किसी प्रलोभनवश कर रहा है तो उसे जुर्माना भी किया जा सकता था।[४] कार्य प्रारम्भ होते ही संघ को छोड़ने वाले सदस्य पर जुर्माना किया जाता और यह प्रयास किया जाता कि वह संघ का सदस्य बना रहे। प्रथमबार चोरी जैसे अपराध को भी क्षमा किया जा सकता है।[५] अन्य सदस्यों के साथ झगड़ा करने आदि के सम्बन्ध में जुर्माना दिया जाता।[६]

वैद्यों की असावधानी से महान अनर्थ हो जाता है। अतएव उनके द्वारा हुए गलत उपचार पर उन्हें उत्तम साहस दण्ड दिया जाता। पशुओं के साथ इस प्रकार की गलती पर प्रथम साहस दण्ड दिया जाता।[७] विष्णु ने राजवर्ग के साथ हुई असावधानी पर वैद्य को प्रथम साहस, अन्य के साथ मध्यम और पशुओं के साथ हुई असावधानी पर प्रथम साहस दण्ड का विधान किया है।[८] कौटल्य ने इस प्रकार का सामाजिक भेद न कर सामान्य रूप से मनुष्यमात्र के लिए की गयी असावधानी के लिए दण्ड

---

१. अ० पु० २२८।१८।
२. कौ० ३।२७।१२५।; याज्ञ० २।२९२।
३. आप० २।१०।२७।१८–१९।; याज्ञ० २।१८७–१९०।
४. मनु० ८।२१९–२२०।
५. कौ० ३।१४।१८६।
६. बृ० १७।५, १३–१६।
७. मनु० ९।२८४।
८. विष्णु० ५।१७५–१७७।

निश्चित किया है।[1] याज्ञवल्क्य विष्णु के समान ही विधान करते हैं।[2] ज्ञानहीन और लापरवाह वैद्य यदि रुपया लेकर रोगी को अच्छा नहीं करता और उसे बुरी हालत में डाल देता है तो उसके साथ चोर जैसा व्यवहार करना चाहिए।[3] बाबीलोनिया में इस अपराध में अंगच्छेद का दण्ड दिया जाता। रोगी यदि दास या पशु है तो स्वामी को प्रतिफल देकर वैद्य मुक्त हो सकता था।[4] पारस में असफल शल्य वध अपराध के समान माना जाता। इंगलैंड में लापरवाही और उपेक्षा के लिए विहित दण्ड इसमें भी दिया जाता।[5]

मौज़ेक लॉ वध में दो भेद करता है—ऐच्छिक (Wilful) और आकस्मिक (Accidental)। जानकर किये वध के अपराध में मृत्युदण्ड दिया जाता। अज्ञानावस्था में वह पुरोहित के यहाँ शरण के लिए भाग जाता था। वह वहाँ तब तक रहता था जब तक प्रधान पुरोहित का देहावसान न हो जाय। यदि इसके पूर्व आ जाता तो उसे मृत्यु-दण्ड का भागी होना पड़ता।[6] एथेन्स में वध-अपराध के निर्णय करने के लिए पाँच अदालतें थीं। एरोपेगस न्यायालय में विष और वध सम्बधी हत्या में मृत्यु-दण्ड दिया जाता। विवाद प्रारम्भ होने के पूर्व यदि अपराधी भाग जाना चाहता है और जीवन भर न लौटने की प्रतिज्ञा करता है तो उसे सुविधा दी जाती। किन्तु अपराधी ने अपने ही माता-पिता जैसे अन्य सम्बन्धी की हत्या की है तो उसे ऐसी सुविधा नहीं दी जा सकती थी। इस अवस्था में उसे आजीवन निष्कासन का दण्ड दिया जाता और उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली

---

१. कौ० ४।१।२०२।
२. याज्ञ० २।२४२।
३. बृ० २२।८।
4. Hamm. 218–220, 225.
5. Blackstone. IV. ch-XIV. P. 197.
6. Exod 21/12, 141.

जाती। पॉलेडियम न्यायालय में ऐसे विवाद जाते जो 'सज्जनतापूर्वक वध' से सम्बन्ध रखते थे। अर्थात् किसी प्रकार की शर्त लिख कर बध करने के अपराध इनमें आते थे। इसमें अपराधी को उस समय तक देश-निकाला का दण्ड भुगतना पड़ता जब तक अपराधी पीड़ित परिवार के साथ रुपया आदि देकर अपना शान्तिपूर्ण सम्बन्ध न बना ले। तीसरा न्यायालय डेल्फीनियम था। इसमें आत्मरक्षा के लिए किये गये वध का अपराध आता था। इस अवस्था में किये गये अपराध पर दण्ड नहीं दिया जाता। शेष दो अदालतें महत्त्वहीन थी।[1] मध्ययुगीन फ्रांस में ऐच्छिक और अज्ञानावस्था में किये बध में कोई अन्तर नहीं किया गया था। इतना अवश्य था कि गुप्तरूप से वध करने और सार्वजनिक स्थान या रूप में बध करने में अन्तर किया जाता। रोम में पति-पत्नि, पिता-पुत्र तथा इस प्रकार के पारस्परिक काण्ड में बड़े कड़े ढंग से मृत्यु दण्ड दिया जाता।[2] १६ वीं शताब्दी तक उचित बध, (Justifiable Homicide) आकस्मिक वध (Accidental Homicide) लापरवाही से वध—(Homicide by negligence) और बध (Murder) चार विभाग किये गये। ब्लैकस्टोन के समय इंग्लैण्ड में हत्या के तीन विभाग थे—उचित (Juustifiable), क्षम्य और दुष्टतापूर्ण अपराध।[3] पारस में वध के अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जाता।[4] बाबीलोनिया में डंडे से मार कर मृत्यु दण्ड दिया जाता।[5] परसियन लॉ में भ्रूण-हत्या को भी वध ही मानते थे। इसमें प्रयोजक को भी मृत्यु दण्ड दिया जाता। प्राचीन इंगलैण्ड में भी यही व्यवस्था थी।

1. Demonsth: III. PP. 327–336. Orations against Aristocrats PP. 189–192.
2. Continental Criminal Law. Part I. Ch. VI. 39f.
3. Blackstone. IV. ch. XIV. PP. 177–203.
4. Zorostian Civilisation. ch. I.
5. Hamm. 153.

अप्राकृतिक अपराध

स्त्री या पुरुष के साथ अप्राकृतिक सम्बन्ध करने पर कौटल्य ने प्रथम साहस या याज्ञवल्क्य ने २४ पण और नारद ने वेश्याशुल्क के आठ गुने जुर्माने का नियम किया है।[१] पशुमैथुन के अपराध में विष्णु ने १०० कार्षापण और गाय के साथ सम्बन्ध करने पर मध्यम साहस दण्ड का विधान किया है। कौटल्य ने पशु-सम्बन्ध में १२ पण का जुर्माना माना है।[२] मत्स्य पुराण ने खच्चर के साथ सम्बन्ध में शिरोमुण्डन के साथ सामाजिक अपमान और गाय के साथ इस अपराध में १ स्वर्ण मुद्रा का जुर्माना किया है।[३]

परसियन लॉ में इस अपराध का दण्ड नहीं प्रायश्चित्त माना है और मजाद के सामने अपराध स्वीकार कर आजीवन पुनः ऐसा न करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती।[४] स्त्री-पुरुष यदि पशु के साथ सम्बन्ध रखते हैं तो उन्हें तथा पशु को मोज़ेक लॉ में मृत्यु-दण्ड दिया जाता रहा है।[५] एथेन्स में व्यभिचार नहीं बलात्कार अप्राकृतिक-अपराध था। इसमें नैतिक अपराध नहीं शारीरिक आघात का विवाद होता था। सोलन ने स्वयं इसकी मूक स्वीकृति दी है।[६] रोम में शारीरिक दण्ड दिया जाता।[७] बलात्कार में शारीरिक क्षति होने पर मृत्यु-दण्ड तक दिया जा सकता था।[८] पशु के साथ स्त्री-पुरुष के अन्यंतर सम्बन्ध में दोनों को जला दिया जाता। बालक से सम्बन्ध में अंगच्छेद का विधान था।[९] प्राचीन इंग्लैंड में भी यही नियम था।[१०]

---

१. कौ० ४।१३।२३४।; याज्ञ० २।२९३।; नारद ६।१९।
२. वि० ५।४२ और ४४; याज्ञ० २।२८९।; कौ० ४।१३।२३४।
३. मत्स्य० २२७।१४१।१४२।
4. Zend-Vend—Frag VIII, 27, 28.
5. Exod 22¹⁵.
6. Plutarch; Solan, Vol I P. 405-407.
7. Demonsth.
8. Just. IV. Title XVIII, 4.
9. Continental History of Criminal Law. P. I. ch. VI–39f.
10. Blackstone. IVXV–P. 215.

अध्याय ५

दंड

प्रारम्भिक समाजों में अपराधी को दंड के माध्यम से दुख पहुँचाना उद्देश्य था। अतएव उस काल में मूलतः वैयक्तिक प्रतिशोध की भावना अधिक क्रियाशील रहती थी। पीडित चाहता था कि अपराधी को उसी प्रकार का कष्ट मिले जिस प्रकार का कष्ट उसे मिला है। इसमें प्रायः प्रकृति के माध्यम पर अधिक विश्वास किया जाता था। आत्मरक्षा के नाम पर हत्या भी कर देना एक प्रकार से दंड ही था। प्रारम्भिक समाजों में आत्मगौरव की पूर्ति के लिए भी पीड़ित अपराधी को भी समान क्षतिपूर्त्ति या पीड़ा की अपेक्षा करता।[1] इसी स्थिति में 'आंख के बदले आंख, दांत के बदले दांत' का सिद्धान्त चरितार्थ होता हुआ दिखायी देता है। इस क्रिया में वही अस्त्र और प्रक्रिया ग्रहण की जाती जो अपराधी पीड़ित के साथ ग्रहण करता था। प्रतिफल की इस स्थिति में पीड़ा का उचित मूल्यांकन किया जाता। हत्या, चोरी तथा अन्य वैयक्तिक अपराधों में शारीरिक दंड की व्यवस्था रहती है। छोटे-छोटे अपराधों में भी मृत्यु दंड की सम्भावना की जा सकती है।[2] दैवी अपराधों में व्यक्ति को बड़े ही दुर्दशा पूर्ण ढंग से दंड दिया जाता। कहीं-कहीं तो जलाने आदि के साथ अपराधी को लोग खा भी जाते थे। अफ्रीका में ऐसी स्थिति आदिम जातियों में अधिक थी।

---

1. Westermarck. I, 179.
   Encyclopaedia of Religion and Ethics; Vol. IV, 251.
2. Ellis : Tshi—Speaking Peoples : 1887. P. 166.
   Kaullmaun : Victoria Nyoza : Berliss; 1899. P. 170f.

अंगच्छेद आदि के अतिरिक्त ऋण में दास बनाने की सार्वभौम प्रथा पायी जाती है। चोरी के अपराध में चोर को ही बेंच देने का दंड मिलता रहा। अपमान के लिए शिरोमुंडन का भी प्रयोग होता था। प्रतिफल न देने पर अपराधी को दास बनाने की सामान्य व्यवस्था पायी जाती थी। कबीले के नियम के उल्लंघन में निष्कासन सामान्य व्यवस्था रही।[1] धनवान अपराधी प्रायः प्रतिफल में धन दे दिया करते थे। इस प्रकार क्रमशः कुछ अपराधों को छोड़कर प्रतिफल का विधान अधिक विस्तार के साथ पाया जाता है। यहीं अपराध एवं दंड के साथ कबीलों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। प्रधान उसके परिवार के विपरीत अपराध में प्रतिफल के स्थान पर अपराधी, उसकी कन्या या स्त्री को दास बना लेता या खरीद लेता।

प्रतिफल के मूल में बदले की भावना का मुख्य हाथ रहा है। लेकिन उसे दंड नहीं कह सकते क्योंकि बदला वैयक्तिक होता है और दंड सामाजिक। बदला एक व्यक्ति या उस व्यक्ति के प्रति व्यवहार है जिसने उसके प्रति अपराध किया। दंड समाज द्वारा किया गया वह व्यवहार है जो उसके नियमों के उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के विपरीत किया जाता है। प्रतिशोध में व्यक्ति या व्यक्ति समूह की सहानुभूति पीड़ित के साथ हो जाती है। इस अवस्था में वैयक्तिक या सामूहिक प्रतिशोध स्वीकार कर लिया जाता है। व्यक्ति इस लिए प्रतिशोध लेता है क्योंकि उसकी समझ से उसका हित या अधिकार खतरे में पड़ जाता है। इस प्रकार वह सुरक्षात्मक होता है। प्रथम स्तर पर प्रतिक्रियात्मक होता है इसमें कोई व्यक्ति किसी हित की अवहेलना नहीं कर सकता।

प्रारम्भिक समाजों में समाज या उसके प्रतिनिधियों द्वारा न्याय प्रतिशोध की भावना पर आधारित रहता है। दंड, सामाजिक-संरक्षण की दृष्टि से अधिक अंश में बदलाके आसपास ही रहता है। अपराधी कष्ट, प्रायश्चित्त या उस समय का समाज जो कुछ प्रस्तुत करता है उसके लिए सदा तैयार

1. Westermarck : I, 172.

रहता है। वैयक्तिक प्रतिशोध और सामाजिक न्याय उस काल में अधिक समान रहते हैं। सामाजिक न्याय अपेक्षाकृत अधिक निष्पक्ष रहता है। किन्तु अपराधी व्यक्ति स्वयं ही नहीं अपितु निर्णायकों से तिरस्कृत किया जाता है।

सामाजिक न्याय प्रारम्भ में सीमित रहता है। साथ ही साथ वैयक्तिक या सामाजिक प्रतिशोध की अपेक्षा करता है। इसे न्याय भी कहा जाता है क्योंकि समाज के द्वारा इसके कार्यान्वयन का अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है। समाज द्वारा स्वीकृत होने पर न्याय का एक विशेष रूप बन जाता है। सामाजिक न्याय में अपराधी को पीड़ित के सम्बन्धियों के हाथों सुपुर्द कर दिया जाता है। इस अवस्था में अपराधी के अपराध एवं उसके निर्णय के कार्यान्वयन भी पीड़ित के परिवार के हाथ में छोड़ दिये जाते हैं। सामाजिक सुरक्षा को भय न हो तो वैयक्तिक प्रतिशोध में प्रायः प्रतिफल की व्यवस्था कर दी जाती है। सभ्यता के विकास के साथ कुटुम्ब, ग्राम या समूह के प्रधानों का उदय होता है। उस समय यह व्यवस्था, प्रधानों के माध्यम से पूर्ण की जाती है।[1] प्रारम्भिक समाजों में कौटुम्बिक सम्बन्धों के साथ यह व्यवस्था और सरलता से पूर्ण की जाती है। जिस व्यवहार से एक व्यक्ति पीड़ित होता है वह दूसरे को भी पीड़ित कर सकता है।

इस अवस्था में व्यक्ति आत्मरक्षा के लिए जिस परम्परा की नींव डालता है उससे सदाचार और विधि का बीजारोपण होता है। उनके उल्लंघन को ही अपराध कहा जाता है। प्रारम्भिक समाजों के उचित-अनुचित के निर्णय का अभिव्यक्तीकरण सदाचार है। इसी के आधार पर कार्यों का औचित्य देखा जाता है। यद्यपि इनमें कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनका सम्बन्ध आचार से नहीं होता। इस प्रकार सामाजिक प्रतिशोध और सामाजिक न्याय नैतिक धारणा से अभिव्यक्त होते हैं। सामाजिक न्याय में नैतिकता का अधिक सम्बन्ध रहता है क्योंकि इसका सम्बन्ध अधिकतम व्यक्तियों से रहता है।

1. Westermarck; Moral Ideas I, 498.

दण्ड का भी सम्बन्ध इस स्तर पर नैतिकता से सम्बन्ध रखता है। प्रारम्भिक समाजों के द्वितीय चरण में विकसित समाज के समय दण्ड अधिक नृशंस हो जाता है। इसके पूर्व उसका अनुपात अपराध के साथ रहता है।

अपराध रोकने में प्रतिशोध की प्रवृत्ति से जो वैयक्तिक सम्बन्ध होता है उससे प्रधानों की प्रभुता का उदय हुआ। इससे केन्द्रियतावादी स्थिति का विकास होता है। प्रधानों के माध्यम से प्रयुक्त दण्ड-व्यवस्था ने वैयक्तिक प्रतिशोध से होने वाले रक्तपात में भी कमी की। कहीं-कहीं तो व्यक्ति ने स्वयं प्रतिफल पाने के अपने अधिकार प्रधानों को समर्पित कर दिया। उसके द्वारा केवल परामर्श का कार्य न होकर निर्णय का भी कार्य होने लगा। ऐसी भी स्थिति आती है कि यदि व्यक्ति शोध में निर्बल होता तो प्रधानों से उसे सहायता भी मिलती। सहानुभूति के माध्यम से उसे समाज के अन्य लोगों से भी सहायता मिल जाती। इस प्रकार दण्ड का प्रयोग व्यक्ति से हटकर प्रधानों की ओर अग्रसर होता गया। अन्त में दण्ड का संचालन केन्द्रिय व्यक्ति विशेष के माध्यम से होता हुआ राजतन्त्र को जन्म देता है।

प्राचीन भारतीय समाज में प्रतिशोध और बदलेकी स्थिति से दण्ड के उदय पर प्रकाश कम पड़ता है। यहाँ तक कि वैदिक काल के साथ जिस व्यवस्था का सम्बन्ध है उसमें प्रधानों की विशेषता के स्थान पर सामाजिक संस्थाओं के विकास का रूप प्राप्त होता है। उनकी सार्वभौमिकता पर किसी व्यक्ति विशेष का प्रभुत्व नहीं रहता न तो उसका संचालन किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से होता है। उन संस्थाओं ने केवल प्रतिफल की ही योजना नहीं की अपितु उनके कार्य अपराध दण्ड की उचित व्यवस्था करना था। इस स्थिति का विकास स्पष्ट रूप से उत्तर वैदिक काल में हो जाता है। उस समय से दण्ड और उसकी सूची भी सामने आ जाती है। दण्ड का दार्शनिक एवं सामाजिक रूप व्यवस्थित हो जाता है। इस स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक है कि हम दण्ड की सर्वांगीण मीमांसा करें।

वेदों में दण्ड शब्द आया है। लेकिन उसका स्पष्ट रूप न्यायिक प्रशासन के रूप में व्यक्त नहीं होता। इस रूप में दण्ड शब्द का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रारम्भ होता है।[1] सूत्र काल में दण्ड के विभिन्न अंगों का विकास हुआ। विधि एवं राज्य के समान ही दण्ड का भी उद्देश्य समाज की 'यथा स्थिति' की सुरक्षा सूत्रकारों को इष्ट थी। अतएव दण्ड के साथ देश, जाति और कुल के आचार का सम्बन्ध लगा दिया गया। दण्ड के समय देश, काल, वय, विद्या के साथ व्यक्ति की चित्त-स्थिति पर भी ध्यान दिया गया।[2] इस प्रकार के नियम सभी सूत्रकारों को मान्य रहे हैं। गौतम के अनुसार दण्ड शब्द दम (दमयति) से बना है। वह निरोधक है। नियन्त्रक होने से राजा को भी दण्ड कहा गया है।[3] लेकिन सूत्रकार दण्ड और राजा दोनों को विधि के नियन्त्रण में मानते हैं। राजा द्वारा विधि के उल्लंघन पर वह स्वयं दण्ड का भागी होगा।[4] सूत्रकार नहीं मानते कि शक्ति बिना न्याय निष्क्रिय है (Justice without power is impotent) तथापि उन्होंने मनुष्य स्वभाव को पवित्र माना और यह भी स्वीकार किया कि भय से ही अधिकार एवं कर्त्तव्य की सुरक्षा नहीं हो सकती। फलतः उन्होंने नियम एवं व्यवस्था की सुरक्षा के लिए विधि की पीठिका में शक्ति को स्वीकार किया।

दण्ड की उत्पत्ति दैवी है। अतएव वह स्वयं दैवी गुणों से सम्पन्न है। वह व्यक्ति को पवित्र करता है। वह पाशविक प्रतीकार की शक्ति को सन्तुष्ट नहीं करता न तो केवल भावी अपराधियों को चुनौती देता है और न अपराधी को ठीक करता अपितु स्वयं अपराधी के कल्याण के लिए भी दण्ड

---

१. शत० ब्रा० ५।४।४।७।

२. दण्डस्तु देशकालधर्मवयोविद्यास्थानविशेषैर्हिंसाक्रोशयोः कल्प्यः। वशि० सं० २१।७–९।; गौ० ११।९–१०।; बौ० १।१०।१८।

३. दमो दण्ड इति ख्यातस्तस्माद्दण्डो महीपतिः। नीतिसार २।१५।; शुक्र १।१५७।

४. वशिष्ठ २१। तुलनीय Prof Cahn : Sense of Injustice. PP. 7, 27.

आवश्यक है। समग्र विश्व में पीड़ित भी अपना अस्तित्व सुरक्षित और अपनी उपयोगिता प्राप्त कर सके, इस प्रकार की स्थिति प्रस्तुत करना दण्ड का उद्देश्य है। इस रूप में वह अपना निजी नैतिक मूल्य रखता है। प्रारम्भिक समाज के प्रतीकारात्मक पक्ष का भी बीज सूत्रकारों की विचारधारा में पाया जाता है। विधि की दृढ़ता के लिए वे प्रतारण भी स्वीकार करते हैं। लेकिन इसे सार्वभौम रूप वे नहीं देते क्योंकि व्यक्ति जब विधि की सीमा का उल्लंघन क्षुद्र रूप में करता है तभी प्रतारण (Coercion) अपेक्षित होता है।[1]

वैदिक समाज की कुछ विशेषताएँ रही हैं। इसकी मुख्य विशेषता थी, कि वह स्वयं संचालित था। शासन के स्थान पर व्यवस्था का महत्व था और उसका संचालन समाज द्वारा होता था। व्यवस्था नीचे से ऊपर की ओर विकसित हो कर कुछ अंशों में प्रशासनिक हो जाती थी। समाज वर्गों में विभक्त नहीं था। वाह्य शत्रुओं, संघ-बद्ध, से भय था। उनके साथ सम्बन्ध की भी समस्या थी। किन्तु विधि में उनके साथ विषमता-मूलक विधान नहीं था। ऐसे समाजों के आचार मान लिए गये थे। यह स्थिति किसी रूप में सूत्र काल तक चलती रही यद्यपि ब्राह्मणकाल के बाद इसमें परिवर्तन आने लगा। इस समय शासन का प्रधान राजा था। साथ ही न्याय का भी प्रधान होने लगा। अब समाज का प्रशासन ऊर्ध्वमुखी न होकर अधोमुखी हो गया। समाज में दस्यु, दास, शूद्र, किरात, कोल, पुलिन्द तथा विभिन्न अवैदिक जातियों के साथ सम्बन्ध हो गया। उनसे वैदिक समाज की सुरक्षा का भी प्रश्न आया। मनु के काल तक उपनिवेशों से सम्बन्ध हो जाने से राजशक्ति के विस्तार और प्रशासन में कठोरता भी आ गयी। बौद्ध क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति पर नियन्त्रण करने एवं सामाजिक व्यक्तियों को विशेष नियम में बाँधने के लिए शक्ति का अन्तिम रूप सामने आया। धर्म, नीति, सदाचार,

1. Neibuhr : Human Destiny. PP. 266–79.
Prof Cahn : Sense of Injustice. PP. 7. 27.
Konkunov : Theory of Law.

सम्पत्ति, जीवन आदि की रक्षा अब एक मात्र दण्ड से ही सम्भव हो गयी। अब समाज एवं व्यक्ति में स्वयं संचालन की शक्ति नहीं रही। इस पृष्ठ भूमि में सूत्रों के उत्तरवर्ती काल के स्वरूप आदि के विवरण से मूल प्रश्न का स्पष्टीकरण हो जाता है। इतना ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि वेदों की मूल धारणा की सुरक्षा एवं व्यवहार का सभी शास्त्रकारों ने प्रयास किया; यही उनके द्वारा 'यथा-स्थिति' की रक्षा का प्रयास है।

सूत्रों से निकटतम सम्बन्ध महाभारत का है। उसमें दण्ड का सार्वभौम रूप प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार दण्ड प्रजा पर शासन करता और उसकी रक्षा करता है। विश्व सोता है तो वह जागता है। अतएव विद्वान उसे धर्म ही मानते हैं। दण्ड ही धर्म, अर्थ और काम की रक्षा करता है। अतएव वही त्रिवर्ग है।[1] इस प्रकार के विवेचन में वैदिक समाज से विकसित होने वाली परम्परा में परिवर्तन होने लगता है। अब मनुष्य जो कुछ नियम पालन करता है दण्ड के भय से। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं भिक्षुक भी मूलतः पवित्र नहीं माने जाते। अर्जुन के अनुसार मनुष्य भी दण्ड के ही भय से अपने कर्त्तव्य पालन में लगते हैं। यह भय राजदण्डमूलक हो या यमदण्डपरक लेकिन दण्ड-भय से ही पाप न करने में भी प्रवृत्ति होती है। मनुष्य का स्वभाव भयमूलक है। दण्ड स्वयं विष्णु, नारायण और महापुरुष

---

१. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्व्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।।शान्ति १५।२-५-१२।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः। शान्ति १५।२।
दण्डः सरंक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं सरंक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ।। १५।३।
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ।। १५।१२।
राजदण्डभयादेके नराः पापं न कुर्व्वते ।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ।। १५।५।

है। जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है, अंकुश गज को वश में रखता है, वैसे ही दण्ड दुष्टों को सन्मार्ग पर ले आता है।[1] इसके द्वारा ही राजा पृथ्वी पर शासन करता है और प्रजा सुख का भोग।[2]

महाभारत के दण्ड-सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है कि समाज की स्थिति बदल चुकी थी। विधि, राज्य, दण्ड एवं राजा को समाज की शक्तियों से बद्ध रहने के स्थान पर अब दण्ड शक्ति का विस्तार हो गया था। वह इस रूप में हुआ कि त्रिवर्ग भी उसी से संचालित होने लगा। राजा काल का कारण माना गया।[3] इस प्रकार दण्ड-शक्ति के विकास के साथ मानव-स्वभाव को भी बुरा एवं भयपूर्ण मान लिया गया। अन्यत्र भीष्म ने वैदिक परम्परा के अनुसार मानव-स्वभाव को मूलतः पवित्र और सात्विक माना और अर्जुन ने भयपूर्ण। इसमें उन्होंने युधिष्ठिर को प्रभावित करना चाहा किन्तु उनमें युग की वाणी प्रतिध्वनित हुई है। भीष्म उपदेष्टा के रूप में वैदिक धारणा के साथ अपने काल की मान्यता का समन्वय करते हैं।[4] महाभारत में जिस निष्काम योग की स्थापना की गयी है, उससे अर्जुन के सिद्धान्त का समन्वय नहीं होता। यदि व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति भय और दोष पूर्ण है तो वह कर्मयोग की धारणा को स्वीकार नहीं कर सकता। अतएव महाभारत में मूल वैदिक-परम्परा को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया लेकिन उसमें युग की स्थिति अस्वीकार नहीं की जा सकती।

सामाजिक परिस्थितियों के साथ दण्ड-सिद्धान्त में दम पक्ष का विकास होता हुआ दिखायी पड़ता है। पूर्व कथित तत्त्वों ने व्यक्ति, समाज एवं राज्य के सम्बन्ध-निर्धारण पर प्रभाव डाला। दण्ड के दम रूप को कृष्ण ने अपना रूप बताया। कौटल्य ने भी मात्स्य-न्याय से मुक्ति के लिए दण्ड की

१. शान्ति० ६७।६–११।
२. शान्ति० ५६।३–७।
३. शान्ति पर्व १४।१३।
४. शान्ति० १।२२।

आवश्यकता बतलायी। उसके बिना अराजकता फैल जाती है। चारों वर्णाश्रम एवं लोक का पालन राजा दण्ड के ही बल पर करता है। उसी से सब अपने नियत कर्म में रत रहते हैं। अतएव आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता तीनों विद्याओं की स्थिति दण्ड के अधीन है। कामन्दक के अनुसार लोक के साथ परलोक के लिए भी दण्ड आवश्यक है। यथावत् दण्ड के प्रयोग से ही त्रिवर्ग की स्थापना और वृद्धि हो सकती है। यह लोक काम-लोभादि कार्यों से परिप्लुत है। दण्ड से ही उचित मार्ग पर ले आया जा सकता है। कृश, विकल, व्याधित को भी कुलनारी पतिरूप में दण्ड भय से ही स्वीकार करती है। इस प्रकार दण्ड प्रजापति के समान स्वयं प्रजा को धारण करता है। कामन्दक ने दण्ड-विवेचन में अपने गुरु कौटल्य और मनु दोनों का समन्वय किया है। धर्म ही दूसरे रूप में दण्ड बन जाता है। दुर्वृत्त का शासन धर्म के दण्ड रूप से करने के लिए ब्रह्माने उसे उत्पन्न किया है। नारद, अन्य स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में भी इसी प्रकार का विवेचन मिलता है।[1]

मनु ने दण्ड को विधि की प्रमुख विशेषता ही नहीं माना अपितु दोनों को एक कर दिया। मनु का दण्ड सामाजिक परिवर्तन से अधिक प्रभावित है। इनके अनुसार पवित्र व्यक्ति दुर्लभ है। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों से मनुष्य में स्वार्थ और संघर्ष की उत्पत्ति हुई। मात्स्य-न्याय से धर्म की मर्यादा नष्ट होने लगी। धर्म-संस्थापना और प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ब्रह्मतेजोमय दण्ड की ब्रह्मा ने सृष्टि की। वह ब्रह्मा का पुत्र धर्म स्वरूप ही है।[2] वह श्याम वर्ण और लोहित आंखों वाला पाप का नाशक है। उसके सदुपयोग से प्रजा सुखी रहती है।[3] इसके चार दांत और

---

१. अर्थशास्त्र १।४।१७–१६।; १।५।१। कामन्दक नीतिसार २।३८–४३।१। याज्ञ० १।३५४। नारद० १।१–२।

२. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ मनु० ७।१४।

चार भुजायें हैं। उसके उग्र रूप से भय उत्पन्न हो जाता है। दण्ड के प्रयोक्ता में सत्यवादिता, समीक्षा करने वाली प्रज्ञा, धर्म, अर्थ और काम के तत्त्वों का ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार के प्रयोक्ता से त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। अन्यथा दण्ड प्रयोक्ता का सर्वनाश कर देता है। महातेजस्वी, दुर्धर दण्ड से राजधर्म-च्युत राजा सकुटुम्ब नष्ट हो जाता है। दण्ड का सम्बन्ध स्थावर और जंगम से भी है। उसके भय से बराबर सभी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। उसके प्रयोग में देश, काल, शक्ति, विद्या के साथ दण्ड का समन्वय करना आवश्यक है। दण्ड स्वयं राजा, नेता, शासिता, वर्णाश्रमों के पालन में धर्म का प्रतिभू है।[1] दण्ड ही प्रजा का शासन और अभिरक्षण करता है। दण्ड-भय से ही काक पुरोडाश और श्वान हवि ग्रहण करता है। वर्ण-धर्म का पालन भी उससे है।[2] सभी सन्मार्ग पर आने के लिए दण्ड की अपेक्षा करते हैं। उसका सम्बन्ध मनुष्येतर देव, दानव, गन्धर्व, पक्षी, सर्प आदि से भी है। वे भी अपने कर्त्तव्य का पालन लोक भय से ही करते हैं। श्रुति तो अग्नि, सूर्य, वायु और मृत्यु को भी दण्ड-भय से कर्त्तव्य-संलग्न मानती है।

इस प्रकार मनु द्वारा प्रस्तुत दण्ड की शक्ति व्यक्ति, समाज एवं सभी से ऊपर है। वह धर्म का भी संरक्षक बन जाता है। किन्तु वह विधि से परे नहीं होता। अतएव दण्ड-प्रयोक्ता में विधि की संप्रभुता स्वीकार करना और आत्मनियन्त्रण दोनों आवश्यक हैं। मनु दण्ड को सामाजिक स्थिति के साथ भी सम्बद्ध करते हैं। दण्ड से ही वर्णों एवं विधि आदि की रक्षा सम्भव है। राजा समाज की यथास्थिति में हस्तक्षेप करने पर दण्ड का भागी हो जाता। इस प्रकार दण्ड सामाजिक सम्बन्धों, साम्पत्तिक अधिकारों और परम्परा का पालक हो सका। साथ ही इनके प्रतिपादक शास्त्रों का भी

---

१. स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १४।१७।
विशेष द्रष्टव्य मनु० ७।१५,१६,१७।

२. मनु० १४।१८–२१।

वह संरक्षक था। मनु अपने काल की वर्गीय समाज-व्यवस्था, वर्गीय शक्ति एवं उसके अभिभावक शास्त्रों की सर्वविध रक्षा करना चाहते हैं। अतएव उनकी रक्षा में ही दण्ड-शक्ति का प्रयोग आवश्यक माना। उनकी इस व्यवस्था से व्यक्ति, समाज एवं राज्य अपरिवर्तनीय शासन-विधान के अनुयायी मात्र रह गये। इसमें शंका उत्पन्न करना भी दण्डय हो गया।

दण्ड के आधार और उद्देश्य

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार धर्म के समान दंड-शक्ति का सम्बन्ध राजा से हुआ। उस युग से राजशक्ति का केन्द्रीयकरण होने लगता है। परिस्थितियों में परिवर्तन होने से उत्तरवर्ती काल में समाज के नियमों के पालन एवं संरक्षण के लिए दण्ड भय के लिये आधारित किया गया। दंड के स्वरूप में परिवर्तन के पीछे वैदिक समाज से मनु-काल तक अवैदिक जातियों के सम्मिश्रण, स्थानीय संगठनों की राजनीतिक शक्ति का ह्रास, आर्थिक विषमता का जन्म, वर्गीय आधार पर विधि की सर्वोच्चता की स्थापना, जैसी शक्तियां क्रियाशील थीं। इस स्थिति में जनकल्याण, सामान्य हित एवं जन-इच्छा आदि का तात्पर्य समग्र समाज नहीं हो सकता। लेकिन भय पर आधारित दंड दमन का रूप नहीं रह गया। वह मानसिक दुर्बलता के किसी भी पक्ष—महत्वाकांक्षा, लोभ, ईर्ष्या आदि का नियन्त्रण करता है। इससे राज्य के किसी अधिकार का निर्माण नहीं होता अपितु वह दंड के माध्यम से अधिकार को मूलरूप देता और उसे वास्तविक बनाता है। वह शक्ति का प्रयोग सामाजिक हित के लिए करता है। इसमें दमन (Coercion) भी अनुशासन एवं आज्ञा-पालन के लिए साधन है।[1] दण्ड से सम्बद्ध शक्ति का कार्य अपराधी को दण्ड ही नहीं देता है अपितु ऐसा वातावरण प्रस्तुत करता है जिसमें अपराध की स्थिति न आ सके। शक्ति से किसी अधिकार की स्थापना नहीं हो सकती।[2]

1. J. S. Mekenji : out Line of Philosopby P. 133
2. Bosanquet : The Philosophical Theory of the State. P. 34
   T. H. Green : Principles of Political Obligations P. 140

कौटल्य के पूर्व तीक्ष्ण और मृदु-दण्ड की परम्परा चल रही थी। उन्होंने दोनों में समन्वय किया। उनके अनुसार दण्ड जीवमात्र की सुरक्षा के लिए है। उसका आधार है अनुशासन। अनुसाशन का तात्पर्य है विनय। वह दो प्रकार का होता है—कृतक (नैमित्तिक) और स्वाभाविक (प्राकृतिक)। जो परिश्रम करके किन्हीं कारणों से प्राप्त किया जाय वह कृतक और जो वासनावश स्वतः सिद्ध हो वह स्वाभाविक है।[1] इस प्रकार कौटल्य विनय के बौद्धिक एवं नैतिक दोनों पक्षों का समावेश करते हैं। मनु भी दण्डधर राजा के लिए बौद्धिक अनुशासन मुख्य मानते हैं। उन्होंने राजा के लिए धर्मज्ञों की परवशता, इन्द्रियजय, सामाजिक नेता का समादर, वृद्धसेवा आदि का तात्पर्य अनुशासन की स्थापना के लिए ही किया है।[2] दण्ड से सम्बद्ध दो शब्द और हैं, बल और शक्ति। कौटल्य ने इनका प्रयोग सेना और शक्ति के अर्थ में किया है। शक्ति तीन होती हैं—मन्त्र, प्रभु और उत्साह। दैवी शक्ति निर्माण, पालन और ध्वंस के लिए होती है। कौटल्य ने बल एवं शक्ति का सम्बन्ध दण्ड से करके उसे न्यायालय की सीमा से व्यापक बनाया। वह देव लोक से लेकर स्थावर, जंगम, समाज के संघटन, राजा की प्रकृतियों से सम्बद्ध हो गया। उसमें सैनिक शक्ति से लेकर दैवी शक्ति तक का समन्वय हुआ।

इस प्रकार दण्ड का आधार शक्ति है लेकिन उत्पीडन एवं प्रतारणा से युक्त नहीं। वह विधि की सर्वोच्चता का साधन है। अतएव उसका प्रयोग राजा स्वेच्छा नहीं आधार और उद्देश्य से ही करता है।[3] स्वार्थ के लिए प्रयोग करने से वह समूल नष्ट हो जाता है। दण्ड-प्रयोग में उसे विभिन्न

---

१. विनयमूलो दंडः प्राणभृतां योगक्षेमावहः। कृतकः स्वाभाविकश्च विनयः। अर्थशास्त्र १।५।२–३।

२. मनु० ७।३२, ३७, ३८, ३९।

३. कौ० १।४।४; मनु० ७।३०।

पक्षों का विश्लेषण करना पड़ता है।[१] वह उसका प्रयोग स्वेच्छा से न कर सके इसलिए राज्य के अन्य कर्मचारियों एवं सामाजिक प्रतिनिधियों के परामर्श से दण्ड का प्रयोग करता है।[२] कौटल्य के पूर्व बौद्ध क्रान्ति हो चुकी थी। बौद्धों के अहिंसा का प्रभाव दण्ड पर पड़ा और वे मृदु दण्ड के पक्षपाती थे। दूसरी तरफ अन्य आचार्य तीक्ष्ण दण्ड पर बल दे रहे थे। कौटल्य ने दोनों अतियों में समन्वय किया और यथार्ह (यथोचित) दण्ड-सिद्धान्त का विकास किया। उनके परवर्त्ती विचारकों ने उसी मार्ग का अनुसरण किया।[३] कौटल्य ने पक्षपात (स्ववंश-परपक्ष) स्वार्थ, शक्तिसंचय, लोभ आदि को दुष्प्रणीत दण्ड का आधार माना है। ऐसे दण्ड से सामाजिक क्रान्ति हो जाती है। ऐसे दण्ड से तपस्या में संलग्न परिव्राजकों तक में उद्वेग हो जाता है सामाजिक व्यक्तियों की बात ही क्या ![४] दण्ड के दुष्प्रयोग से राजाओं का सदा नाश हुआ है।[५] विधि से ज्ञात एवं प्रयुक्त दण्ड ही प्रजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति कराता है। अतएव विधि-नियन्त्रित दण्ड का आधार है अनुशासन और विनय।

दण्ड का सम्बन्ध राजा और धर्म से क्या था इसके स्पष्ट होने से उसके उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। दण्ड का प्रयोग धर्म-नियन्त्रण में होना चाहिए। इस प्रकार के दण्ड प्रयोग करनेवाले को धर्मावतार कहा गया है। न्याय

---

१. याज्ञवल्क्य १।३५८। ; अर्थशास्त्र १।६–६–८। मनु० ७।१९ और १९।

२. मनु० ७।३११; याज्ञ० १।३५५।

३. अर्थशास्त्र १।४।८–१२।; यथार्हदंडः पूज्यः १।४।१३। स दंडो वधबन्ध-परिक्लेशार्थहरणलक्षणस्तीक्ष्णमृदुमध्यमभेदेन त्रिविधः। कामन्दक २।३८। पर जयमंगला टीका।

४. अर्थशास्त्र १।४।१४,१६।

५. महाभारत शान्ति० १५०।३।; सभा० २२।२४।; वन० ११५।१२।; अनुशासन० १५३।३।; शान्ति० ४९।३५ आदि।

के लिए दण्ड के प्रयोग करने वाले राजा का यश-विस्तार होता है।[१] शारीरिक एवं लौकिक दण्ड से राजा को मुक्त करते हुए नारद कहते हैं कि राजा कभी अनुचित नहीं करता। उसकी आज्ञा विधि है। दण्ड का कार्य राजाज्ञा का पालन करना है। राजाज्ञा के विपरीत कार्य करने वाले को दण्ड देकर राजाज्ञा का पालन कराना चाहिये।[२] लेकिन अन्यत्र नारद का कहना है कि दण्ड जन-कल्याण के लिए होता है। उसे शक्ति-प्रयोग के स्थान पर न्याय का प्रयोग करना चाहिए।[३] याज्ञवल्क्य ने शास्त्राज्ञा को ही राजाज्ञा माना है।[४] आचार्यों ने राजाज्ञा एवं दण्ड दोनों को धर्म पर आधारित और नियन्त्रित किया है।[५] कौटल्य ने प्रजासुख को ही सर्वोच्च स्थान दिया है।[६] वस्तुतः यदि दण्ड राज्य की शक्ति है तो धर्म उसका उद्देश्य।[७] दोनों के समन्वय होने पर ही दण्ड संस्कृति के विकास की संस्था और धर्म मानव के अन्तिम लक्ष्य का प्रतिपादक होता है।[८]

आवश्यकता, उत्पत्ति और स्वरूप

प्राचीन भारतीय समाजशास्त्र के अनुसार सृष्टि के विकास का आधार 'ऋत' है जो तप (विराट् के) से उत्पन्न हुआ। उसी से समुद्र, संम्वत्सर आदि

---

१. अर्थशास्त्र १।४।१४।
२. विष्णु० ३।३५६, १९०—९६।
३. नारद० ३।६१; १५।१६—२०।; १८।१३।२१।
४. याज्ञ० १।३५७—५८।
५. कामन्दक ५।३७।; शुक्र० ५।२७—२८; १।४५, ४७, ५०, ५१, १३१, ३२, १८३—८५।
६. प्रजासुखे सुखम्। अर्थशास्त्र १।१९।
७. वी० के० सरकारः पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स एण्ड थ्योरीज पृ० २११—२१२।
८. जे० यच० यन० गांगुलीः फिलासाफी ऑफ धर्म, हिस्टारिकल क्वाटर्ली जिल्द २।

की उत्पत्ति हुई।[१] सृष्टि के पूर्व भी ऋत था और उसी का विकास सृष्टि में हुआ। इस प्रकार कारण में मूल रूप से ऋत की ही स्थिति मानी गयी है। सांख्य दर्शन के अनुसार सत्त्व (Sentient principle) रज (Motative Principle) और तम (Static principle) से सृष्टि का क्रम आगे विकसित होता है। प्रारम्भ और मूल में सत्त्व है। विकास के साथ रज और तम का उच्चावच्च सम्बन्ध होता है। व्यक्ति, स्थावर, जंगम एवं समग्र विश्व के कण-कण में इन्हीं तत्त्वों का प्रभाव मूल रूप में है। विकास के साथ सभी में परिवर्त्तन तीन गुणों के विपर्यय के साथ होता रहता है। समाज की प्रारम्भिक दशा में सत्त्व (Sentient Principle) की प्रधानता रहती है। इसका प्रभाव समाज एवं व्यक्ति के सम्बन्धों में अभिव्यक्त होता है। अतएव वाह्य नियन्त्रण निरपेक्ष धर्मपालन से ही समाज का स्वयं संचालन होता है। इससे भी पूर्व की स्थिति स्वयं में पूर्ण मानी गयी। व्यक्ति सम्बन्ध निरपेक्ष था। द्वितीय में सम्बन्धों का तो विकास हुआ किन्तु नियन्त्रण का नहीं। तृतीय स्थिति में परस्पर संबन्धों में धार्मिक नियमों का प्रसार होता है किन्तु किसी नियामक शक्ति का अभाव था और आवश्यकता भी नहीं थी। इसे ही काश्यप संहिता ने आदि युग, देव युग और कृत् युग माना है। व्यक्ति शुद्ध, अपरिमित शक्ति, प्रभाप्रभाव, वीर्य, धर्म, सत्त्व और शुद्ध तेज से युक्त था। इस अवस्था में रागद्वेष आदि गुण भी नहीं थे। कालान्तर में सत्त्व के स्थान पर रज और तम का प्रभाव पड़ा।[२] फलतः कृत् युग से सामाजिक सभ्यता का विकास हुआ और उसे ही भारतीय विचारकों ने भ्रंश (पतन) माना।

---

१. ऋग्वेद १०।१९।१।

२. चरकसंहिता—पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्य""धर्मसत्त्वशुद्धतेजसं पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानामुपचीयमानरजस्तमस्कानां"" तेजोऽन्तर्दधो""।" पराशरकृत ज्योतिष संहिता की भट्ट उपलकृत बृहत्संहिता की टीका पृ० १५।

अब समाज त्रेतायुग में प्रवेश करने लगा। उसमें लोभादि वृत्तियों का विकास हुआ।[1]

उक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मनुष्य में सात्विक वृत्तियों के साथ राजसिक और तामसिक वृत्तियों के विकास के कारण युग-परिवर्तन हुआ। यह विकास प्रकृति के तत्त्वों में परिवर्त्तन से सम्भव हुआ जिसमें पुरुष पलता है। महाभारत में पराशर और भीष्म ने इसका स्पष्ट वर्णन किया है। पराशर ने अपने स्मरण पर बताया कि धर्मप्रधान समाज में न्याय एवं धर्म में अनुवृत्त लोगों में आवश्यकता पड़ जाने पर धिग्दण्ड से कार्य चल जाता था। किन्तु कालान्तर में रज और तम के विकास होने पर उन गुणों का प्रभाव व्यक्ति पर भी पड़ा। क्रमशः प्रजा में दर्प, मान, क्रोध, लज्जा, मोह आदि का प्रादुर्भाव हुआ। फलतः धिग्दण्ड से कार्य नहीं चल सका और समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। लोग देवता और ब्राह्मण की भी अवमावना करने लगे।[2] इसी स्थिति को भीष्म राजनीतिक भाषा में

---

१. भ्रश्यति तु कृतयुगे····लोभः प्रादुरासीत्। ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः अभिद्रोहादनृतवचनम्, अनृतवचनात् कामक्रोधमानद्वेषपारुष्याभिघातभयताप-शोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः।

२. श्रूयन्ते हि पुराणेषु प्रजा धिग्दण्डशासनाः।
दान्ता धर्मे प्रधानाश्च न्यायधर्मानुवृत्तिकाः॥
तं धर्म्ममसुरास्तात ! नामृष्यन्त जनाधिपः।
विवर्धमानाः क्रमशस्तत्र तेऽन्वाविशन् प्रजाः॥
तासां दर्पः समभवत् प्रजानां धर्म्मनाशनः।
दर्पान्मानस्ततः पश्चात्क्रोधस्तासामजायत॥
ततः क्रोधाभिभूतानां वृत्तं लज्जासमन्वितम्।
ह्रीश्चैवाप्यनशद् राजन् ! ततो मोहोऽभ्यजायत॥
ततो मोहपरीतास्ता नापश्यन्त यथा पुरा।

इस प्रकार कहते हैं "प्रारम्भ में न राज्य था न राजा। न दण्ड था न दण्ड देने वाला। धर्म से ही प्रजा परस्पर अपनी रक्षा करती थी। कालान्तर में क्रमशः खेद एवं मोह से धर्म का नाश हुआ। लोग लोभ के वशीभूत हो गये। उससे काम और राग उत्पन्न हुआ। फलतः व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के ज्ञान से विमुख हो गया। धर्म नाश होने पर लोग त्रस्त होकर ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने सहस्र अध्याय में उनके धर्म, अर्थ और काम के लिए विधान प्रस्तुत किया।[1]

स्पष्ट है कि आदर्श युग से पतन में मूलकारण मनुष्य की प्रवृत्तियाँ थीं। मनु आदि सभी विचारक इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। उनके अनु-

---

परस्परावमर्द्देन न वर्धन्त्यो यथासुखम् ॥
ताः प्राप्य तु स धिग्दण्डो न कारणमतोऽभवत्।
ततोऽभिगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणांश्च ता ॥
प्राप्य तु स धिग्दण्डो न कारणमतोऽभवत्।
ततोऽभिगच्छन् देवांश्च ब्राह्मणाश्च अवमन्य ह ॥ महा॰ शान्ति॰ २६८।८-१४।

१. न वै राज्यं न राजासीन्न तु दण्ड्यो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥
पाल्यमानास्तथाऽन्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ॥
ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥
नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तथा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ! ॥ महा॰ शान्ति॰ ५९।१४-१७।
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभिजानान्ति कार्याकार्यं युधिष्ठिर ! ॥ महा॰ शान्ति॰ ५९।१९।
ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्म्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ वही॰ २९।

सार घृणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों से मनुष्य में स्वार्थ उत्पन्न हुआ। निर्बल सबल से पीड़ित होने लगे। धर्म की मर्यादा नष्ट होने लगी। समाज में मात्स्यन्याय विकसित होने लगा। अतएव धर्म की संस्थापना और प्राणि-मात्र के कल्याण के लिए ब्रह्माने 'तेजमय दण्ड' की सृष्टि की। वह ब्रह्मा का पुत्र धर्म स्वरूप ही था।[१] मात्स्यन्याय से मुक्ति के लिए दण्ड की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त सभी विचारकों ने माना।[२] लेकिन मात्स्यन्याय का समाज ऐसा नहीं था कि मनुष्य एक दूसरे से संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो।[३] वैदिक दार्शनिकों ने मनुष्य का स्वभाव मूलतः उत्तम माना है। अतएव उन्होंने स्वर्ग या भूतल पर कहीं ऐसे समाज का अस्तित्व नहीं माना जिसमें मनुष्य केवल ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि से प्रभावित होकर कार्य कर रहा हो। कुछ वाह्य हस्तक्षेप शान्तिभंग कर रहे थे। उनसे सुरक्षा के लिए दण्ड एवं राज्य की उत्पत्ति हुई।[४]

राधाविनोदपाल के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध प्रमाण देवताओं में हुए सम्विद (Covenent) का द्योतक है। भूतल पर रहने वाले प्राणियों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। मनुष्य में सामाजिकता के भाव प्रारम्भ से ही प्राप्त हैं। फलतः वैदिक काल में प्रायः सामाजिक स्थिति (Pre-Soial Stage) का अस्तित्व नहीं मिलता। यही कारण है कि वैदिक विचारधारा का प्रारम्भ समाज, राज्य और सरकार के संगठन के साथ होता है और वे दैवी देन के रूप में हैं।[५]

---

१. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ मनु० ७।१४।

२. शान्तिपर्व १५।३०; ६७।१६।; अयोध्याकाण्ड ६७।३१।; कौ० १।४।१७-१८। कामन्दक २।४०।

३. तुलनीय हाब्स के विचार। विशेष द्रष्टव्यः Pulzky; Theory of Law and Civil Society. P. 251-76. Social Contract.

४. ऐ० बा० ४।७।८।

5. Radhavinoda Pal. The Histary of Hindu Law. P. 188.

दण्ड की उत्पति जिस सामाजिक स्थिति में हुई उसका विश्लेषण आवश्यक है। साथ ही मानवीय स्वभाव के सम्बन्ध में प्राचीन विचारकों के तथ्य पर भी ध्यान देना है। ऐतरेय ब्राह्मण में महीदास ने मनुष्य को ब्रह्माण्ड का सूक्ष्म रूप माना है। जो कुछ एक में है वही समग्र में भी विद्यमान है। मूल (Cause) और तूल (Effect) की प्रक्रिया से विश्व की व्याख्या सम्भव है। आत्मज्ञान हो जाने पर सृष्टि का ज्ञान हो जाता है। मनुष्य और पशु में भेद यह है कि पशु भूख-प्यास, प्रयास, प्रवृत्ति एवं भावना से निर्देशित रहता है और मनुष्य विवेक शक्ति से। विवेक शक्ति मनुष्य मात्र में समान नहीं है। चित्त-स्थिति से उसका विकास होता है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेचन की सामान्य शक्ति चेतना है। वह मनुष्य मात्र में है। मनुष्य की ध्वनि के साथ वाणी और मस्तिष्क के साथ बुद्धिमत्ता उपलब्ध है। वह विचार कर सकता है। विचार के लिए इंद्रिय और बुद्धि दो क्षमताएं अपेक्षित हैं। इन्द्रियां वाह्य जगत की उपलब्धियों का सम्बन्ध बुद्धि से कराती हैं। जिनसे विचार की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जो कुछ उपलब्ध करता है उससे आगे जाने का विचार उत्पन्न होने लगता है। विचार की शक्ति मनुष्य में ही है, अतएव वही सृष्टि के रहस्य जान पाता है। वैदिकों ने मनुष्य की जिस रूप से व्याख्या की है पुराणों ने सृष्टि-निर्माण में वही रूप स्वीकार किया। देवता, पशु, पक्षी आदि के निर्माण से साधक की सम्भावना नहीं हो सकी। किसी में केवल सत्त्व था और किसी में तम का प्राधान्य। अन्ततः मनुष्यका निर्माण हुआ। उसी में ज्ञान की धारणा सम्भव हो पायी।[1]

इस प्रकार समाज एवं व्यक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति मूल रूप में सात्विक और पवित्र है। वातावरण के प्रभाव से उसमें लोभ, क्रोध आदि प्रवृत्तियों की उत्पत्ति होती है। उनसे

---

१. विष्णु पुराण ५।१।६–१७।; कूर्म १।७।३–१०।; अश्वमेधपर्व ४३।२०। वायु, ब्रह्माण्ड, लिंग, मार्कण्डेय आदि सभी पुराणों में सर्ग विकास के सम्बन्ध में समान विचार मिलते हैं।

सामाजिक सम्बन्धों में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों से प्रभावित व्यक्ति को कर्त्तव्य पर ले जाने के लिए प्रारम्भिक समाज में कोई व्यवस्था नहीं थी। शिष्ट इस स्थिति से परिचित होते हुए भी अधिकारविहीन थे। व्यक्ति एवं समाज में व्यवहार की उत्पत्ति होने लगी किन्तु उसका निर्णायक एवं नियामक कोई नहीं था यही मात्स्यन्याय की अवस्था का मूल है। इसे दूर करने के लिए ब्रह्मा ने विधान और प्रशासक दिया। विधान पालन के लिए दण्ड शक्ति की उत्पत्ति हुई।

दाण्डिक विमुक्तियाँ

भारतीय व्यवस्था में दंड को 'सीधा डंडा' का रूप न देकर उसके साथ अपराध, अपराधी, परिस्थिति, आयु, व्यक्तित्व, देश आदि का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि दंड-प्रयोग में न्यायाधीश को अपने विवेक के प्रयोग का अवसर मिल सका। विवेक में मानवता के सामान्य तत्त्वोंके साथ कुछ आधार भी प्रस्तुत किये गये जिनके आधार पर वह कुछ अपराधियों को अपराध से मुक्त कर सकता था। इस प्रकार की दांडिक विमुक्तियाँ सुधारात्मक दण्ड-सिद्धान्त के पूरक हैं। स्त्री, रुग्ण, ८० वर्ष से अधिक आयु के वृद्ध एवं १६ वर्ष से कम आयु के बालक के लिए दण्ड और प्रायश्चित्त का आधा कर दिया जाता है। ११ वर्ष से कम ५ वर्ष से अधिक आयु का बालक गुरुगृह या अपने अभिभावक के पास है तो उसे राजदण्ड नहीं दिया जाता। वह प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है।[1] वैधानिक भाषा में ८ वर्ष की अवस्था का बालक शिशु और १६ वर्ष का बालक 'पौगंड' कहा जाता है। इस अवस्था में हुए अपराध का दण्ड नहीं होता।[2] शंख ने अपराध से मुक्ति की न्यूनतम आयु ५ वर्ष और मांडव्य ने यह अवस्था १४ वर्ष माना है।[3] इस अवस्था में यदि अपराधी समर्थ

---

१. गौ० २।६। पर हरदत्त; याज्ञवल्क्य ३।२४३। पर मिताक्षरा।
२. नारद० ४।८५।
३. महाभारत आदि पर्व १०७ और १०८ अध्याय। तुलनीय Indian Penal Code; Section 82.

है तो स्थान आदि साफ करा लेना चाहिए और अपराध गुरुतर है तो सुधार की दृष्टि से कोड़े लगवा देना चाहिए।[1] यदि अल्पवयस्क अपराधी के साथ वयस्क भी उपस्थित है तो अपराध का दायित्व वयस्क पर ही होगा। कौटल्य ने इसे उदाहरण देकर समझाया है। उनके अनुसार रथचालक अल्पवयस्क है और वयस्क चालक रथ में उपस्थित है और इस स्थिति में अल्पवयस्क से रथ चलाने सम्बन्धी कोई अपराध हो जाता है तो उसे ही अपराध का दायित्व स्वीकार करना पड़ेगा।[2]

कुछ मात्रात्मक विमुक्तियाँ हैं जिनमें अपाधी को दण्ड से पूर्णतया तो नहीं मुक्त किया जाता किन्तु दण्ड की मात्रा में कमी कर दी जाती है। स्त्री, बालक, रुग्ण, उन्मत्त, वृद्ध, निर्धन आदि दण्ड से मुक्त रहते हैं। अज्ञान के साथ यदि लापरवाही हो तो अपराधी दण्डमुक्त नहीं हो सकता।[3] हत्या, चोरी, डाका, वाक्पारुष्य (गाली) आदि अपराधों में वर्ण के आधार पर दंड में भेद किया गया है। शूद्र की अपेक्षा उच्च वर्णों विशेष रूप से ब्राह्मण को, दण्ड में कुछ विशेष उन्मुक्तियाँ प्रदान की गयी हैं।[4] लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि ब्राह्मण दण्डमुक्त थे। उनके दण्ड में मात्रात्मक भेद था। वे समाज में यशोजीवी थे। अतएव उन्हें सामाजिक दंड देकर शरीर के स्थान पर तेजोबध ही विशेष दंड दिया गया। लेकिन मृत्यु दंड तक भी उन्हें दिया जा सकता था।[5]

---

१. मनु० ९।२८२, २८३, २३०।
२. कौ० ४।१३।३३२।
३. मनु० ९।२३०।; याज्ञ० २।२१३, २१४।; कौ० ३।१९।१९३ और १९५।; तुलनीय : Salmod; Jurisprudence. ch. 18. Scetion 140 P. 357.
४. गौ० १२।१५–१६।; मनु० ८।३३८–३९।; याज्ञ० २।२०६–२०७।
५. गर्भस्य पातने स्वेनो ब्राह्मण्यां शस्त्रपातने। अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोऽपि हि ॥ याज्ञ० २।२८१। पर विश्वरूप द्वारा उद्धृत कात्यायन वचन।

परिमाण और स्वभाव

भारतीय दंड विधान अनमनीय (Rigid and inelastic) है। अपराध एवं उनके दंड के आधार निश्चित हैं। न्यायाधीशों को निश्चित विधि में सीमित कर दिया गया जिसकी सीमा में ही उन्हें कार्य करना पड़ता है। विधि की सीमा, अपराधी के व्यक्तित्व और अपराध के स्वरूप में सुधार या परिवर्तन करना न्यायाधीशों की शक्ति में नहीं था। लेकिन निर्णय में उन्हें अपने विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय (Discrition) का अवकाश था। अपराधी की अवस्था, ज्ञान, जाति, सामाजिक स्तर, शारीरिक क्षमता, मानसिक दशा, उद्देश्य, समय, अपराध के स्वभाव (Nature of Crime) आदि के विवेचन में वह अपने विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय के अधिकार का प्रयोग कर पाता है। इस प्रकार दंडसंहिता में विधि के साथ विवेक (Equity) का महत्त्व स्वीकार किया गया।

गौतम ने न्यायाधीशों को सलाह दिया है कि वे पुरुष, क्षमता, अपराध और अनुबन्ध (Motive) के साथ इस बात पर भी ध्यान दें कि क्या अपराध की पुनरावृत्ति हो रही है ?[1] वशिष्ठ के अनुसार देश, काल, कर्त्तव्य, अवस्था, स्वाध्याय, पद के विवेचन के बाद ही दण्ड-विधान करना चाहिए।[2] मनु के अनुसार देश, काल, विद्या और क्षमता के आधार पर निर्णय देना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य अपराध, देश, काल, बल, वय, कर्म और वित्त के आधार पर निर्णय का परामर्श देते हैं।[4] आपस्तम्ब उसमें दूसरा मार्ग ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार कर्त्ता, प्रयोजयिता और परामर्शदाता को ध्यान में रखकर दण्ड देना चाहिए।[5] कौटल्य के अनुसार अनुबन्ध (Motive)

१. गौ० १२।५१।
२. वशिष्ठ १९।९।
३ मनु० ७।१६।
४. याज्ञ० १।३६६।
५. प्रयोजयिता, मन्ता, कर्त्तेति स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः। आप० २।२।२९।१।

काल, देश, वातावरण, वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षमता तथा अपराध की समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है।[१] अपराध की पुनरावृत्ति पर अधिक दण्ड दिया जाता। बृहस्पति ने इस बात पर जोर दिया कि केवल शास्त्रों के अनुसार ही दण्ड न देना चाहिए उसमें वातावरण, अपराध आदि का ध्यान आवश्यक है।[२] अपराध स्वीकार कर लेने पर दण्ड कम दिया जाता।[३]

दण्ड के प्रयोग में व्यक्ति और अपराध की स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। युक्ति द्वारा इस बात की समीक्षा न्यायाधीश करता।[४] न्याय की सीधी रेखा सिद्धान्त का हीगेल आदि विद्वानों ने पर्याप्त आलोचना की है। विष्णु ने कहा है कि अपराध के अनुपात से ही दण्ड दिया जाना चाहिए।[५] अपराधी की अवस्था, देश, वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षमता के साथ अपराध की गुरुता, मूल तथा उसके प्रति व्यक्ति का सहज या कृत्रिम (आकस्मिक) सम्बन्ध आदि देख कर दण्ड देने के लिए सभी शास्त्रकार विधान करते हैं।[६] अपराध के प्रति मनोवृत्ति, स्थान, समय, शक्ति और अपराध ही दण्ड के आधार हैं।[७] इसी में जाति आदि की सामाजिक स्थिति और व्यक्तित्व में विषमता से दण्ड के परिमाण में भी विषमता हो जाती।

---

१. पुरुषं चापराधं च कारणं गुरु लाघवम्।
अनुवन्धं तदात्वं च देशकालौ समीक्ष्य च॥ अर्थशास्त्र पृ० २२६।

२. बृ० २।१२।

३. नारद० १।२४५ और २४६।

४. राजधर्मानुशासन पर्व २५ पृ० ९५-७ (रे का अनुवाद)

५. विष्णु. ३।६५।; कौ० पृ० ७१, २४३, २४७ शाम शास्त्री का अनुवाद।

६. मनु० ८।१२६।

७. विष्णु० ३।६६।

अध्याय ६

दंड सिद्धान्त

आधुनिक विधिशास्त्री मुख्यतः दंड के ४ सिद्धान्त मानते हैं। प्रतीकारात्मक (Retributive), अवरोधक (Deterrent) निरोधक (Preventive) और सुधारात्मक (Reformative)। प्रतीकारात्मक दंड-प्रारम्भ समाज में बदला (आँख के बदले आँख, दांत के बदले दांत) पर आधारित रहा है। यथार्थवादी विचारक दंड को साध्य से सम्बद्ध न कर उसे घटित तथ्य तक रखना चाहते हैं। न्यायालय द्वारा अपराध के समान ही उचित दंड एवं प्रतिफल की व्यवस्था होना आवश्यक है। आदर्शवादी कांट भी प्रतीकारात्मक दंड को उचित मानते हैं।[१] अपराध रोकने एवं समाज के अन्य सदस्यों के लिए चेतावनी देने के लिए अवरोधक दंड होता है। यह दंड सिद्धान्त अपराधी को अपराध के अयोग्य बनाने और भय पर आधारित है। अतएव इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अपहरण करने वाले अंगच्छेद, मृत्युदण्ड, देशनिष्कासन, आजीवन कारावास आदि का विधान किया जाता है। निरोध सिद्धान्त अवरोधक एवं सुधारात्मक में समन्वय स्थापित करता है। उन्हें परस्पर अलग भी करना कठिन है।[२] इसमें नागरिक को चेतावनी के स्थान पर अपराध के कारणों को समाप्त करना है जिसमें अपराध की

---

१. कांट : हास्टी अनुवाद पृ० १९५। वूल्जे : पॉलिटिकल सायंस १ पृ० ३३५।; फाई: स्टडीज बाई दि वे; थ्योरी आफ पनिशमेंट पृ० ४३—७१।

२. सेमुअल होर: क्रिमिनिल जस्टिस बिल (१९३०) ३४२।; मैक्सडुग्वी, सोशल साइकॉलॉजी पृ० १२।

पुनरावृत्ति न हो। व्यक्तिवादी विचारधारा से व्यक्ति के व्यक्तित्व का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। इसका प्रभाव दंड-सिद्धान्त पर भी पड़ा। सुधारात्मक सिद्धान्त इसी विचार का परिणाम है। इसमें अपराध की अपेक्षा अपराधी पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अपराधी केवल दंड नहीं, उपचार का भी पात्र है। अतएव सामाजिक सुरक्षा के साथ अपराधी के व्यक्तित्व पर ध्यान देना आवश्यक है। मनःस्थिति के विशेष कारणों से अपराध हो जाने पर अपराधी में परिवर्तन भी हो सकता है। कभी-कभी महान् व्यक्तियों से भी अपराध हो जाता है। राज्य यदि उचित वातावरण प्रस्तुत करे तो व्यक्ति के अपराध की मनः स्थिति का भी लोप हो सकता है।[1]

दंड के उक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्रायश्चित्त सिद्धान्त भी है। यह नैतिकता पर आधारित है। इसे पूर्णतया विधि की सीमा से नहीं लगाया जा सकता।[2] प्रायश्चित्त पाप का होता है और दंड अपराध का। पाप और अपराध में पूर्ण भेद न होने पर प्रायश्चित्त का प्रभाव अधिक था। यद्यपि अपराध विधि (Criminal Law) को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता तथापि उसे आचार संहिता में उलझाया भी नहीं जा सकता। पाप या आचारिक अपराध दंड की सीमा से परे भी होते हैं। फलतः प्रायश्चित्त राज्य हस्तक्षेप में तब तक नहीं आता जब तक वह उसका प्रयोग सामाजिक प्रतिनिधियों से उचित रूप में हो रहा हो।

प्रतीरात्मक दंड

प्रारम्भिक समाज में प्रतीकारात्मक दण्ड (Retributive) का अत्यधिक प्रयोग होता था। आज जब प्रतिफल आदि के दण्ड विद्यमान हैं

1. Vinogradoff : Histrical Jurisprudence 1 P. 59.
   Gluck : Crime and Justice P. 214-5.
   Paton : Jurisprudence P. 350
2. G. W. Paton : A text Book of Jurispudence. P. 347.
   Page : Crime and Communality P. 1069.

तो उनमें प्रतीकार के अंश अवश्य मानने पड़ेंगे। राज्य से इस प्रकार के दण्ड की व्यवस्था का यह निष्कर्ष नहीं कि राज्य प्रतीकार पक्ष का विकास करता है। व्यक्ति में स्थित प्रतीकार की भावना में ह्रास होने पर राज्य से इस प्रकार के दण्ड का भी अभाव हो जायगा। प्रतीकार पक्ष उस युग में विशेष महत्व रखता है जिसमें व्यक्ति के अधिकार अपना उचित रूप नहीं धारण कर पाते। प्रतीकार को अधिकार का रूप नहीं दिया जा सकता क्योंकि इससे समाज के हित का विरोध होता है। प्रतीकार को अधिकार का रूप देने पर अधिकार का स्वयं लोप हो जायगा। प्रारम्भिक समाजों में व्यक्ति के अधिकार ग्राम, कुटुम्ब या समुदाय के प्रधान के द्वारा व्यक्त होते थे। व्यक्ति का स्वतंत्र रूप में कोई मूलाधिकार नहीं था। इस अवस्था में व्यक्ति व्यक्ति से प्रतीकार की अपेक्षा नहीं करता। प्रतीकार ग्राम, कुटुम्ब या समुदाय के माध्यम से व्यक्त होता था। व्यक्ति स्वतंत्र नागरिक के स्थान पर संघटन का सदस्य था। उस में संघटन के, प्रति कर्त्तव्य के ही भाव अधिकार के स्थानापन्न बन जाते थे।

वैदिक समाज संघबद्ध था। व्यक्ति का व्यक्तित्व कुटुम्ब, ग्राम एवं सामाजिक संघटनों में समाविष्ट था। व्यक्ति का अपराध कुटुम्ब एवं संघटन का अपराध माना जाता था। अपराध के दण्ड में प्रतीकार का रूप प्रतिफल के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसे ही वैरदेय कहा गया है। यही देय शब्द स्मृतियों में पारिभाषिक हो गया है। प्रतिफल व्यक्ति के स्थान पर संघटनों के माध्यम से लिया दिया जाता। चोर के दण्ड में प्रतिफल का यह रूप दिखाई पड़ता है।[1] संघबद्ध व्यक्ति का दण्ड के साथ सम्बन्ध प्रस्तुत करने पर उसमें आधार लक्ष्य और अनुपात का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। ऋण न देने पर संघ का दास हो जाना पड़ता।[2] आँख के बदले आँख, दांत

---

१. ऋग्वेद ५।६१।८। ७।८६।५।
२. ऋग्वेद १०।३४।४। कुछ लोग मानते हैं कि ऋण वसूली की अनिवार्यता पर तो प्रकाश पड़ता है किन्तु न देने पर क्या हो इसका विवरण नहीं मिलता; ब्लूमफील्ड : हिम्स आफ अथर्ववेद। ५२८। ह्विटने इसे अपराध नहीं पाप मानता है; ट्रांसलेशन ऑफ अथर्ववेद ३६४।

के बदले दांत की यहूदी उक्ति का मूल वेदों में पाया जाता है।[१] किन्तु इस प्रयोग का सम्बन्ध संघ के साथ होने से वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं हो पाती। स्मृति-काल तक व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। जेन्स ने मनु के वचनों से उस काल में प्रतीकारात्मक दंड सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[२]

वैदिक काल में ऋत एवं ईश्वरेच्छा के उल्लंघन का फल दैवी प्रकोप और मृत्यु है।[३] एक व्यक्ति का अपराध पूरे समाज को दंड रूप में मिलता है। इस प्रकार के दण्ड का ज्ञान दिव्य साक्षी से होता है। यह प्रकार प्रायः सभी प्राचीन समाजों में पाया जाता है।[४] लेकिन दिव्य साक्षी से दण्ड की प्राप्ति में वैदिकों की एक दूसरी धारणा है। उनके अनुसार देवता विधि के संरक्षक हैं। उनसे कोई अपराध नहीं छिप सकता। दिव्य साक्षी से दैवी निर्णय अभिव्यक्त होता है।[५] एक सौ आत्मा वाला भी दैवी नियम का उल्लंघन कर जीवित नहीं रह सकता।[६] दिव्य साक्षी से अपराधी या तो दंड पा जाता या निर्दोष सिद्ध हो जाता। स्मृतिकाल तक दिव्य साक्षी दंड के स्थान पर साक्षी के रूप में ही रह गयी। उसके साथ वर्ण आदि का सम्बन्ध लग गया। पश्चिम में दिव्य साक्षी होने वाले न्याय को ईश्वर का न्याय कहा गया।[७] तात्पर्य यह कि दिव्य साक्षी के रूप में भी प्रतीकारात्मक दंड-सिद्धान्त विकसित हुआ।

---

1. Drof. Basu : Indo-Aryan polity. p. 99,
2. Institute of Hindu Law. p. 192.
   मनु० ८।२०१; गौ० १२।१; वनपर्व अध्याय २९।
३. ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः। ऋ० ९।७३।६।; ग्रिस्वोल्ड : रेलिजन ऑफ ऋग्वेद पृ० १२६। केगी, ऋग्वेद पृ० १८ (१८८६)।
4. Vinogradoff : Common Sense in Law. p. 243.
५. ऋ० ४।५।४।; अथर्व० ६।३।३।;४।१६।१। स न दह्यतेऽथ मुच्यते। छान्दो० ८।१६।२।
६. न देवानामतिव्रतं शतात्मा च न जीवति। ऋग्वेद १०।३३।९।
7. Gardiner : History of England. p. 32.

निरोधक

निरोधक सिद्धान्त में अपराध की पुनरावृत्ति रोकना होता है। इससे प्रतिरोधक एवं सुधारात्मक के बीच समन्वय किया जाता है। यह सिद्धान्त सार्वभौम रहा है।[१] निरोधक दण्ड का तात्पर्य है कि कल्याण की स्थापना में बाधक तत्त्वों को दूर कर अपराधों की पुनरावृत्ति के उन्मूलन का प्रयास करना। इस अवस्था में दमन भी सुधारमूलक हो जाता है। सुधार एवं निरोध में सामान्य अन्तर यह है कि निरोध भय पर आधारित है। सुधार में दुष्प्रवृत्तियों के स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना करना है। इसका सम्बन्ध प्रायश्चित्त से अधिक हो जाता है। प्रारम्भिक समाज में संरक्षण की विशेष आवश्यकता रहने से उस समय दमन सिद्धान्त प्रयोग में आता रहा। लेकिन यह मानना तथ्यहीन है कि दण्ड व्यवस्था केवल निरोधक है क्योंकि भय की स्थिति से अधिकारों की सुरक्षा और स्थापना नहीं हो सकती।[२]

दमन सिद्धान्त में भी ईंट का जवाब पत्थर अथवा बदले की भावना नहीं रहती। उसमें भी अपराधी पर नियन्त्रण की ही बात रहती है।[3] इस सिद्धान्त का मनु भी समर्थन करते हैं।[४] यद्यपि दमन शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी उसमें अपराधी की अपेक्षा अपराध निवृत्ति ही मुख्य लक्ष्य रहा है।[५] उद्देश्य के आधार पर दमन की अवस्था में गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। महाभारत यह कहते समय कि कोई भी विधि का उल्लंघन करने वाला दण्डित या मारा जा सकता है अधिक स्पष्ट और दृढ़ हो जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि विधि का पालन जागरूकता के साथ होता रहा। उसकी अवहेलना का साहस नहीं हुआ विधि के उल्लंघन पर

1. Makenji : Out Lines of Social Philosoply. p. 165.
2. T. H. Green : Principles of Political Obligations.
३. गौतम संहिता ११ पृ० ६८२ (सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट)
४. मनु० ५ पृ० ३०७, विशेष द्रष्टव्य कुल्लूक भट्ट। (सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट)
५. राजधर्मानुशासन पर्व ३२ पृ० ९६३ (रे का अँग्रेजी संस्करण)

राज्य द्वारा यथाविहित दण्ड तत्काल मिलता रहा है।[१] ध्यान देने की बात यह है कि दमन सिद्धान्त प्रशासक या अन्य किसी की मनोभिलाषा की पूर्ति का समर्थन नहीं करता। उसके प्रयोग के आधार निश्चित हैं। उसमें कार्यपालिका संशोधन नहीं कर सकती क्योंकि उसके आधार शास्त्र हैं। दमन का तात्पर्य विधि का यथातथ्य क्रियान्वयन ही है। समग्र व्यवस्था विधि निषेध के पर्यालोचन से सुसम्बद्ध है।

सुधारात्मक

उचित दण्ड सुधारात्मक होता है। इसमें पीड़ित और अपराधी दोनों के अधिकारों पर ध्यान दिया जाता है। उचित दण्ड का तात्पर्य समाज का कल्याण है। अतएव अपराधी के नैतिक कल्याण की भी समस्या का समाधान आवश्यक हो जाता है। इस स्थिति में समाज के सामने स्वयं यह प्रश्न रहता है कि अपराधी उचित मार्ग पर कैसे ले आया जाय कि उसमें से असामाजिक वृत्तियाँ समाप्त हो जायँ। राज्य समाज की धारणा स्वीकार कर अपराध निवृत्ति के लिए वातावरण प्रस्तुत करता है।

दमन सिद्धान्त से बाद सुधार का उदय होता है। दमन और नियन्त्रण का अधिक प्रयोग होने पर अपराधों में कमी आ जाती है। उस स्थिति में सुधार के प्रसार के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है। यह अवस्था सभ्यता के अन्तिम चरण में सम्भव होती है। वेदों में इस प्रकार के दण्ड का उल्लेख नहीं मिलता। कौटल्य और शुक्र ने इस पर पर्याप्त ध्यान दिया है। कठोर दण्ड विधान के लिए कौटल्य की बड़ी प्रसिद्धि है किन्तु उद्देश्य में वे सुधारात्मक ही थे। उनके अनुसार यदि अपराध की समुचित व्यवस्था की जाय तो अपराधी व्यक्ति समाज में हो ही नहीं सकते। यदि अपराधी को दण्ड नहीं दिया जायगा तो अपराध का सम्बन्ध अन्य से भी हो सकता है।[२]

१. वही।

२. अर्थशास्त्र पृ० ४२५ (शामशास्त्री का अँग्रेजी अनुवाद)

कौटल्य का उद्देश्य स्पष्ट है। वे समझते हैं कि अपराध समाज में बना रहा तो एक व्यक्ति को छोड़ कर दूसरे से सम्बन्ध बना लेगा जैसे जुए की बीमारी। अपराधी ठीक समाज की स्थापना के लिए व्यक्ति विनाश की अपेक्षा व्यक्ति के अपराध का विनाश किया जाय। इस प्रकार के अपराध की मनोवृत्ति और स्थिति का उन्मूलन कर सुधार सिद्धान्त पर जोर देते रहे हैं। इसकी सम्पुष्टि जेल में कैदियों को कैसे रखा जाता और उन्हें सुधारने की कोशिश की क्या जाती है इसका कुछ उल्लेख कर अच्छी तरह की जा सकती है।

शुक्र के दृष्टिकोण से अपराध की मनोवृत्ति जब तक समाप्त नहीं हो जाती, अपराध समाप्त नहीं हो सकता। अतएव दण्ड विधान मनोवृत्ति और आदत पर विशेष ध्यान देता है। दमन तो दण्ड का साधन है और सुधार साध्य। उनके अनुसार दण्ड वही है जिससे अपराध समाप्त किया जा सके। दमन के माध्यम से पशु भी सुधारे और नियन्त्रित किये जाते हैं।[1] उन्होंने ऐसे बुरे व्यक्तियों की लम्बी सूची दी है जो वातावरण एवं सामाजिक स्थिति के कारण दूषित हो गये हैं। राज्य को सुझाव देते हुए उन्होंने कहा है कि उन्हें राजा अवसर देकर जीवन के उद्देश्य की शिक्षा दे। अपराधी को बन्दी बनाकर देशान्तर तक में भेजा जा सकता है। बन्दी से सड़क बनावाने आदि कार्य लेना चाहिए। राजा को चाहिए कि धर्म संस्थापन और नैतिकता के विकास के लिए दण्ड का प्रयोग करे। अपराधी को उचित दण्ड देना उस पर कृपा करना है। इसमें वह भ्रान्त पथ से उचित मार्ग पर आ जाता है। कामन्दक ने भी यही स्वीकार किया है।[2] इस उद्देश्य से प्रयुक्त दण्ड धर्म का निकटवर्ती बनने लगता है। दण्ड का उद्देश्य चरित्र, नैतिकता तथा मानवीय गुणों का विकास करना है। जो कुछ सोचा जाता है वह परिस्थिति विशेष में मूर्त्त

१. शुक्र नीति पृ० १३०, १३१, १३६ (विनय कुमार सरकार अँग्रेजी अनुवाद)
२. कामन्दक नीतिसार पृ० ६४।

रूप धारण कर लेता है। राजदण्ड के माध्यम से व्यक्ति उचित मार्ग पर लाया जाता है।[1]

अन्यत्र भी मूलोद्देश्य सुधार ही माना गया है। अपराधी यदि कुटुम्ब, जाति, वर्ग या संबंधित आदि से दण्ड पा चुका है, तो उचित है कि राज्य उसे उचित मार्ग पर ले आने का प्रयत्न करे।[2] एक बार अपराध किया हुआ व्यक्ति जीवन की योग्यता नहीं समाप्त कर देता। वह सुधार कर उचित मार्ग पर आ सकता है। लेकिन पूर्व अपराध के कारण सुधरने तथा कार्य करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता तो स्वाभाविक है कि वह बाध्य होकर पुनः अपराध की स्थिति में चला जाता है। महाभारत के अनुसार दुष्ट को दण्ड देकर समाज निरापद हो सकता है। राजा का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति को उचित जीवन व्यतीत करने की दिशा में अवसर प्रदान करे।[3] सुधार के उद्देश्य तक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दो माध्यम से पहुँचा जा सकता है। दमन और नियन्त्रण का प्रत्यक्ष फल सुधार ही है।

वस्तुतः दंड साध्य नहीं साधन है। अतएव उसका उद्देश्य सामाजिक कल्याण में है। सामाजिक कल्याण की स्थापना में वह सुधारवादी हो ही जायगा। सुधार के लिए बन्दियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार मुख्य होते हैं। इसके लिए सर्वप्रथम हमने अपराध के प्रकार में वह पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जिसे देखने पर ज्ञात होता है कि अपराधी के साथ कैसा व्यवहार किया जा सकता था। बन्दियों के साथ होने वाले प्रयोग देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अपराधी का सुधार ही मुख्य रहा है। मनु के अनुसार स्त्री, बालक, वृद्ध और रोगग्रस्त को वेत, रस्सी, बांस आदि से सजा न देनी चाहिए। शुक्र ने तो ६४ कलाओं में दंड को जानना और सीखना एक कला माना है। देश निष्कासन और बध दंड के प्रकार कठोर रहे हैं लेकिन उस काल

---

१. शुक्रनीति पृ० १३१ (विनय कुमार सरकार का अनुवाद)
२. याज्ञवल्क्य १ पृ० ५८ (से० बु० ऑफ ईस्ट)
४. मोक्षधर्म १६७ पृ० ११११ (रे का अँग्रेजी अनुवाद)।

के विचारकों के अनुसार अपराधी की यह भी स्थिति आ सकती है कि उसका सुधार न किया जा सके। ऐसे अपराधी को इस प्रकार के दंड आवश्यक हैं। अन्यथा मृत्युदंड के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अपनी असहमति प्रस्तुत की है।

बन्दियों से जेल में काम लेने और उनपर विश्वास करने का प्रयोग सर्व-प्रथम शुक्र की ओर से हुआ। मनु और कौटल्य दोनों ने यह व्यवस्था की है कि वन्दी को जेल में कम से कम समय तक रखा जाय। इसके लिए वे सेवा-बेगार आदि लेकर उसकी सजा कम कर देते थे। यहाँ ध्यान देने की बात है कि सेवा और बेगार करने पर उसका प्रतिफल बन्दी के जेल के कार्य-काल में जोड़ा जाता था। इसीलिए उसका कार्यकाल कम किया जा सकता था। प्रति पाँचवे दिन निष्क्रय लेकर भी बन्दी मुक्त किये जा सकते थे। कौटल्य के अनुसार राजा के जन्मदिवस, राजपुत्र के जन्म, युवराज के अभिषेक, विजय, शुभ नक्षत्र एवं पर्व पर बन्दियों को छोड़ देना चाहिए। इसके साथ बन्दियों को मुक्त करने के लिए तीसरा तरीका यह भी था कि अकस्मात् जेल में आये बन्दी शीघ्र छोड़े जाते थे। उनके आचरण की देखभाल रखी जाती थी। उनसे पुनः अपराध न करने की प्रतिज्ञा लेकर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया जाता था।

प्रायश्चित्त

वैदिक समाज में सुधारात्मक दंड का आधुनिक रूप नहीं मिलता। सुधारात्मक अंश का समावेश प्रायश्चित में किया जा सकता है। अन्तर यह है कि प्रायश्चित्त पाप का होता है और दंड अपराध का। पाप का सम्बन्ध नैतिक विधि से नहीं हो पाता। अतएव प्रायश्चित्त का सम्बन्ध वैधानिक प्रक्रिया से नहीं हो पाया। तैत्तिरीय संहिता के कुछ मन्त्रों में प्रायश्चित्त पाप के साथ अनवधानता और दैवी आपत्ति से सम्बद्ध होता है।[1] इनसे स्पष्ट

---

१. तै० सं० २।१।२।४।; २।१।४।१।; ३।३।३।२–३।; ५।१।९।३।; ५।३।१२।१।

होता है कि पाप के साथ अपराध का भी भाव विकसित हो रहा था। कौषीतकी ब्राह्मण में पाप के स्थान पर स्खलन (Mistake) शब्द का प्रयोग आता है।[१] श्रौत सूत्रों में विधि के अपराध में प्रायश्चित्त का प्रयोग बहुलता के साथ पाया जाता है।[२] यद्यपि यहाँ विधि शब्द का अर्थ लॉ नहीं है तथापि पाप के स्थान पर अपराध के बीज का आरोपण प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में पाप का प्रायश्चित्त भी वैदिक परम्परा से चल रहा था।[३] उसका पर्याय निष्कृति दिया गया है। मीमांसकोंने यज्ञीय विधि के पालन में हुई अनवधानता का प्रायश्चित्त विशेष रूप में प्रतिपादित किया है।[४] इसके साथ उन्होंने, जिस विधि का निषेध हो उसके पालन पर प्रायश्चित्त का विधान किया। मीमांसकों के दृष्ट एवं अदृष्ट के साथ प्रायश्चित्त के सम्बन्ध हो जाने से उसका दार्शनिक पक्ष भी हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्मृतियों एवं निबन्ध ग्रन्थों तक प्रायश्चित्त नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य हो गया।[५] इस स्तर तक पहुँचने पर पाप के साथ ज्ञान

---

१. यद्वै यज्ञस्य स्खलितं वोल्वणं वा भवति ब्राह्मण एवं तत्प्राहुस्तत्स त्रय्या विद्यया भिषज्यति। कौ० ब्रा० ६।१२।

२. विध्यपराधे प्रायश्चित्तिः। आश्व० श्रौ० ३।१०; शा० श्रौ० ३।१९।१; वै० श्रौ० २०।१।

३. अथर्व० १४।१।३०; वाज० सं० ३९।१२; ऐ० ब्रा० ५।२७; शत० ब्रा० ४।५।७।१; ७।१।४।९; ११।५।३।८; १२।४।१।६; कौ० ब्रा० ५।९।

४. जै० १२।३।१६। पर शबर स्वामी; १३।३।१७; आप० श्रौ० ९।१।१।

५. प्राय० तत्त्व पृ० ४६७; प्राय० वि० पृ० ३,१७; मद० पा० पृ० ७०३; ७०४; याज्ञ० ३।२२० पर मिता०। मनु० ११।५३ पर कुल्लूक।; याज्ञ० ३।२०६। पर बालम्भट्टी आदि। नित्यकर्म सन्ध्या बन्दन है। जिसको करने से पुण्य नहीं, किन्तु न करने पर पाप होता है। नैमित्तिक—जो किसी निमित्त से किया जाता है जैसे ग्रहण स्नान। काम्य—जो किसी उद्देश्य से किया जाता है जैसे पुत्रेष्टि यज्ञ।

और अज्ञान (कामतः अकामतः = Intentionally and unintentionally Committed) के आधार पर प्रायश्चित्त में भेद किया गया।[1]

स्मृति काल तक अपराध और दण्ड के सिद्धान्त का सर्वांगीण विकास हो गया। पाप के अधिक अंशों का सम्बन्ध अपराध के साथ होने लगा। पाप को अब केवल वैयक्तिक न मान कर सामाजिक भी माना जाने लगा। पाप के प्रायश्चित्त में कामतः अकामतः (Intentionally and unintentionally) अवस्था में किये पाप का आधार स्वीकार कर लिया गया।[2] महापातकों में मृत्यु तक का प्रायश्चित्त माना गया। जिसे मृत्यु दण्ड ही कहा जा सकता है।[3] यहाँ यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि यह अपराध का दण्ड है या पाप का प्रायश्चित्त। इसका कारण यह है कि स्मृतियों में श्रुति की परम्परा भी चलती है और अपने युग की व्यवस्था का समन्वय। परम्परा में पाप का भाव उपलब्ध होता है और युग की व्यवस्था में अपराध। अतएव प्रायश्चित्त और दण्ड दोनों साथ साथ हो जाते हैं। वेदों में प्रायश्चित्त राज्य की ओर से नहीं कराये जाते बल्कि उसे व्यक्ति स्वयं करता है। व्यक्ति यदि उसका उल्लंघन करता है तो इसका परिणाम क्या होगा, इसका स्पष्टीकरण वेदों में नहीं होता। स्मृतियों में इस विकल्प की व्यवस्था पायी जाती है। राज्य का कर्त्तव्य था कि वह प्रायश्चित्त की व्यवस्था करे।

प्रायश्चित्त का सम्बन्ध वैयक्तिक और सामाजिक दोनों होने से एक महान असंगति भी उपस्थित हो जाती है। पापी या अपराधी प्रायश्चित्त और दण्ड दोनों के लिए उत्तरदायी हो जाता है। वेद-विस्मरण, स्नान एवं शयन

---

१. वृ० उद्धृत परा० मा० २ भाग १ पृ० १३।; मनु० ११।४५।; याज्ञ० ३।२२६।; गौ० १९।३–६।; वशिष्ठ २२।२–५।

२. मनु० ११।४५।३।; याज्ञ० ३।२२६।; गौ० १९।३–६।; वशिष्ठ २१।२–५।; वृहस्पति उद्धृत परा० मा० २ भाग १ पृ० १३।

३. मनु० ११।४५।; ११।७३।; याज्ञ० ३।२।४७–२४८।; गौ० २२।२–३।; मनु० ११।९०–९१।; याज्ञ० ३।२५३।; गौ० २३।१।; मनु० ११।९९–१००।

आदि से सम्बद्ध पाप का प्रायश्चित्त वैयक्तिक था। चोरी, हत्या आदि के प्रायश्चित्त सामाजिक थे। इनके दण्ड भी थे। फलतः उनका प्रायश्चित्त भी होता और दण्ड भी। पाप होने से उनका प्रायश्चित्त होता और सामाजिक होने से उनका सम्बन्ध राज्य या राजदण्ड से होता। इस प्रकार की असंगति पाप और अपराध दोनों के सम्मिश्रण से हुई। धर्म को व्यापक रूप में आधार मान लेने पर इस असंगति का विस्तार होता रहा। राजद्रोह, राजमार्ग का ध्वंस आदि भी पाप और अपराध दोनों में माने गये।

इस अवस्था में मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि प्रायश्चित्त और दण्ड के सम्मिश्रण की स्थिति में परिषद और राजा में क्या सम्बन्ध हो? दोनों संस्थाओं में किसे प्राथमिकता दी जाय? दोनों अनिवार्य हैं या विकल्प? कुछ प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका के कार्य ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से ही पृथक्-पृथक् हो चुके थे।[1] इस अवस्था में उक्त प्रश्नों का महत्त्व अधिक हो जाता है। निबन्ध ग्रन्थों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में करना चाहा कि चोरी आदि जैसे सामाजिक अपराध यदि शिष्टों से हो जाँय तो उन्हें सामान्य दण्ड के साथ प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिए।[2] निबन्धकारों के इस समाधान का आधार वर्गीय विषमता है। इससे समुचित समाधान नहीं होता। वस्तुतः परिषद् और राजा के अधिकारों में ह्रास एवं विकास के साथ दोनों के सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो गया। सूत्रकाल तक परिषद् समग्र प्रायश्चित्त का निर्देशन करती जिनमें अपराध भी आ जाते। व्यक्ति यदि उन निर्देशों का स्वयं पालन न करता तो राजा द्वारा उनका क्रियान्वयन होता। स्मृति काल तक राज्य शक्ति के विकास और परिषद् की शक्ति के ह्रास के साथ उक्त सम्बन्धों में परिवर्तन हो गया। हत्या आदि शक्ति अर्थात् अपराध एवं दण्ड में आ जाते हैं। परिषदें केवल वैयक्तिक पाप का प्रायश्चित्त का निर्देश करने

---

१. तै० ब्रा० ३।

२. विवाद रत्नाकर से० बु० आफ ईस्ट जिल्द ३३ पृ० ३६२।

लगीं और उनका व्यक्ति द्वारा पालन न होने पर राज्य द्वारा क्रियान्वयन हो जाता। वैदिक काल में यह समग्र कार्य समाज या उनके प्रतिनिधियों से होता रहा। वैदिक परम्परा के साथ समन्वय करने में उक्त स्थिति स्मृति काल में भी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हो पाती किन्तु उनके मूल उपस्थित हो जाते हैं। अर्थशास्त्र एवं अशोक के समय यह स्थिति और स्पष्ट हो जाती है। वैयक्तिक पापों और राज्य अपराधों का दण्ड देने में वे पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन के साथ प्रायश्चित्त के आधार और स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया।

प्रायश्चित्त एवं दण्ड के सम्मिश्रण में दंड को भी पवित्र करने एवं मुक्ति का साधन माना गया। इसमें दंड का दैवी रूप और सहायक हुआ। राजा विधि के अनुसार दण्ड देकर पवित्र करने के लिए उत्तरदायी था।[1] इस विषय में आदर्श उदाहरण शंख लिखित का आख्यान द्वारा प्रस्तुत किया गया है। लिखित ने राजाज्ञा के विना स्वयं आम का फल तोड़ लिया। स्मृतिकार लिखित ने प्रायश्चित्त में अपना हाथ ही काट कर राजदण्ड-विधान से अपने पाप का प्रायश्चित्त किया।[2] फिर भी मिल ने भारतीय दण्ड-विधान पर आक्षेप किया है! वस्तुतः उसने अपने समय के भारत को ही प्राचीन भारत समझने का भ्रम किया। यदि अपने अपराधों के प्रति आत्म-समर्पण की भावना से आत्मशुद्धि का भाव जाग्रत हो जाय तो राज्य के पुलिस अंग की समाप्ति होकर स्वयं संचालित समाज व्यवस्था की स्थापना हो सकती है, जिसे मिल ने (Civilised government) कहा है।

---

१. राजधर्म—शान्ति पर्व—६८ पृ० ९८५।

२. याज्ञवल्क्य संहिता ३ पृ० १५३।; आपस्तम्ब संहिता १।२५।४।; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ० २४१।; मनु० ८।३५१।; उशना संहिता ७।१६।; आपद्धर्म पर्व० १६५ पृ० ९५६। राजधर्मानुशासन पर्व २३ पृ० २५२।

अध्याय ७

दंड के प्रकार

सभ्यता के विकास के साथ ही दंडविधि में भी परिवर्तन होता रहा है। आधुनिक युग में शारीरिक प्रतारणा का प्रयोग करना अमानवीय माना जाता है। शारीरिक दंड में भी अब सीमा निर्धारित की जा रही है। ब्रिटेन में शारीरिक दंड न देने का विचार कुछ दिनों से चल रहा है।[1] मृत्यु दंड के अनुपात में भी क्रमशः ह्रास हो रहा है। जार्ज तृतीय के काल में ब्रिटेन में ६२० शारीरिक दंड दिये गये जब कि आज वहाँ इस प्रकार के दंड समाप्त करने की योजना बनायी जा रही है। प्रतारणात्मक दंड दूसरे के लिए चेतावनी सिद्ध हो सकते हैं। स्वयं अपराधी के लिए क्या हुआ इस पर विचार नहीं किया जाता।[2] मृत्यु दंड का भी प्रभाव सामाजिक नैतिकता पर आशाप्रद नहीं होता। जेल भेजने से अपराधों की कमी अवश्य हुई है। अमेरिका और ब्रिटेन में इस अंश के स्पष्टीकरण के लिए आँकड़े संग्रहीत हुए हैं।[3] उनके अनुसार शराब पीने की सजा के अतिरिक्त अन्य अपराधों में जेल आने

---

1. Report of Departmental Committee on Corporal Punishment (1938); Introduction.
2. Vinogradoff : Historical Jurispradence; I, 58.
3. U. S. Census Bureou के अनुसार 2926 में 44·4%
   England; Report of the Persistant; 1927,, 42·8%
   Offender Committee; 1930 में 37000 अपराधी थे उनमें २८०००
   पुराने कैदी थे जिन्होंने अपराध की पुनरावृत्ति की थी।

के बाद पुनरावृत्ति कम हुई है।[1] कुछ व्यक्ति अवश्य रहे हैं जिन्होंने अपराधों की पुनरावृत्ति की है। फिर भी जेल के माध्यम से सजा के द्वारा अपराधियों की संख्या में कमी हुई है।

इस रूप से अपराध की निवृत्ति के लिए व्यक्तियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। दंड में अपराध की अपेक्षा अपराधी पर ध्यान देना आवश्यक है। इंग्लैंड जैसे देशों ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए कोड़े लगाने आदि की सजा में सुधार कर उन्हें समाप्त-प्राय कर दिया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य अपराध और दंड से अपने को हटा रहा है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन दंड विधि के स्थान पर दंड के नये प्रकार कार्य-सिद्ध हुए हैं और उनका समाजशास्त्रीय स्तर पर प्रयोग किया जा रहा है। इस नयी पद्धति में व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व का उचित मूल्यांकन किया गया है। अब सुझाव यह दिया जा रहा है कि न्यायाधीशों के साथ मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री और शिक्षाविशारदों का रहना आवश्यक है। वे दंड विधान में इस प्रकार की दिशा का निर्देश करें जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व और सामाजिक कल्याण दोनों का समन्वय हो सके।[2]

जेल के अतिरिक्त ऐसी व्यवस्था की जा रही है जिससे उसके अपराध की स्थिति न रहे और अपने चरित्र सुधारने की सुविधा मिलती रहे। इस पद्धति का प्रभावकारी परिणाम हुआ।[3] पेरोल जेल से ऐसी मुक्ति की स्थिति है कि अपराधी निश्चित सीमा में रह कर निश्चित अधिकारों का प्रयोग करता है। अमेरिका में ऐसे अपराधियों से संबद्धित स्वतन्त्र विभाग ही है। वह अपराधी के चरित्र पर ध्यान देता है। अमेरिका में पेरोल पद्धति की

---

1. Fox : Modern English Prision. P. 167.
   Home Office Criminal Statics. 1938.
2. Glueck : Crime and Justice. P. 225-6.
   Cordoz : Law and literature. (1931) P. 79.
3. Medico-Legel and Crinionlogical Review. (1940) 196.

समालोचना इस रूप में हुई कि पेरोल कर्मचारियों ने दबाव में रह कर कार्य किया है। समाज में ऐसे व्यक्ति जो अपराध में अभ्यस्त हैं उनसे सुरक्षा वन्दी-प्रत्यक्षीकरण से भी हो जाती है। अपराध के अपराधियों को सुधारने के लिए क्लिनिक की व्यवस्था की जा रही है। ऐसे अपराधियों के सुधार के लिए मानसिक चिकित्सा एवं मनोवैज्ञानिक प्रयोगों पर सर्वत्र जोर दिया जा रहा है।[1]

नवयुवक तथा छोटी अवस्था के अपराधियों के अपराधों का कारण उनका कौटुम्बिक जीवन रहा है। अतएव ऐसे अपराधियों को जेल न भेज कर बाल न्यायालयों में भेजने का प्रयोग हो रहा है। इसका प्रभाव लाभप्रद हो रहा है। इंग्लैंड में १९३८ के क्रिमिनल जस्टिस बिल के निर्माताओं ने इस व्यवस्था को जेल से अधिक उपयोगी माना है।[2] इनसे जीवन में सुधार की दिशा मिली है। १९०८ में ब्रोस्टल की संस्थाओं ने १६ वर्ष से २१ वर्ष की अवस्था के अपराधियों पर नैतिक, शारीरिक और औद्योगिक प्रशिक्षण से प्रयोग कर उन्हें सुधारने का प्रयास किया। दमन के स्थान पर उनमें आत्म-बल, आत्मगौरव एवं सुरक्षा की भावना उत्पन्न किया। १९२९ में ७१ प्रतिशत अपराधियों के सुधार का अनुपात आया। लेकिन जिन अपराधियों को सीधे ब्रोस्टल संस्था में न भेज कर जेल वहाँ लाया गया उनके सुधरने का अनुपात ५५ प्रतिशत रहा है।[3] इन प्रयोगों से ज्ञात होता है कि नवयुवकों को जेल के स्थान पर सुधरने का अवसर देना चाहिए। क्रिमिनल जस्टिस बिल ने १६ वर्ष से कम आयु के बच्चों को जेल भेजने का निषेध किया।

---

1. Dr. Carroll : Medico-Legal and Criminological Review. (1940) 182.
2. Page : Crime and Community. 225.
   Home Office Criminal Statics. 1938.
3. Young Offender Committee. 1927.
   Fox : Modern English prison, 181.
   Barman : The English Borstal System. (1934).
   Page : Crime and Community. 234.

अपराध समस्या के लिए उन्हें रोकना ही सर्वोत्तम है। इसके लिए प्रतिरोधक उपाय उत्तम समझे गये हैं। प्रतिरोधक उपाय आर्थिक, नैतिक और शारीरिक अपराध के अनुसार प्रयोग में लाये जा रहे हैं। सामाजिक सेवा एवं रहन-सहन के स्तंर के सुधार से आर्थिक अपराधों में कमी की गयी। जीवन के अनुकूल सुविधा देकर और मानसिक उपचार के माध्यम से नैतिक अपराध में सुधार हो रहा है। शारीरिक उपचार से अपराध की भावना पर नियन्त्रण पाने का प्रयास किया गया। इनसे आशाप्रद सफलता मिली। दंड-विधि के सामने यह समस्या है कि ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जाय कि अपराध के कारणों का उन्मूलन किया जा सके। इसके लिए अपराध, अपराधी और अपराध उत्पन्न करने वाले कारणों का अध्ययन किया जा रहा है।

दंड के प्रकार पर सभ्यता के प्रभाव के साथ समाज के उद्देश्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। आधुनिक सोवियत रूस का उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त कर वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। इसमें रूस आज इतना स्पष्ट है कि देश के किसी नागरिक को इसके विरोध करने पर सामान्य से अपराध पर कठोर दंड देता है। 'पार्टी विरोधी नीति' एक ऐसा शब्द है कि इस अपराध का रूस में इसका परिणाम कुछ भी हो सकता है। मृत्यु इस अपराध में सामान्य है। घूस के अपराध में मृत्यु दंड दिया जाता है। जनतन्त्रवादी देशों में इन अपराधों में ऐसा दंड हो ही नहीं सकता। पार्टी विरोधी नीति को वे व्यक्ति के विचार की स्वतन्त्रता मानते हैं। उस पर प्रतिबन्ध लगाना ही अपराध है। घूस आर्थिक अपराध माना जायगा। उसका मानसिक एवं आर्थिक उपचार कर दिया जायगा। जैसा कि कहा गया है कि जनतन्त्रवादी देशों में व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रमुखता दी जायगी। कम्युनिस्ट रूस में ऐसा नहीं हो सकता है। अपराधों के वर्गीकरण पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। समाज के लक्ष्य के अनुसार अपराधों में भेद आता है।

भारतीय समाज की प्रारम्भ से ही अपनी समस्या रही है। उसको प्रारम्भ से अपने अस्तित्व और विकास के लिए संघर्ष करना पड़ा। अवैदिक

समाजों की बार-बार आने वाली समस्या ने भारतीय समाज को वर्गीय बना दिया। फलतः दंड की विधि और उसके प्रकार वर्गीय हो गये। समाज की सुरक्षा में बाह्य प्रभाव के अतिरिक्त समस्या भी थी। यह भी आशंका थी कि कहीं स्वयं अपने समाज में उछृङ्खलता न आ जाय। अतएव बाह्य तत्त्वों और आन्तरिक कंटकों से सदा सावधान रहने के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी। उन दण्डों की कठोरता युगों के अनुसार बदलती रही है। कभी वैदिक युग में बड़ी बहन के रहते भाई यदि विवाह कर लेता तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाता। किन्तु आगे चल कर यह प्रायश्चित्त मात्र रह गया। तात्पर्य यह कि दण्ड के स्वरूप पर युग का प्रभाव क्रियाशील रहा। इसके साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत में प्रायश्चित्त से स्वतन्त्र दण्ड का स्वरूप वैदिक काल से ही चला आ रहा है। दण्ड का अस्तित्व वेदों से ही प्रारम्भ हो जाता है और उसके प्रकार भी उसी समय से स्पष्ट होने लगते हैं।

प्रारम्भिक वैदिक काल में वाग्दण्ड और धिग्दण्ड का प्रयोग अधिक होता था। अधिकतम अपराधों में प्रायश्चित्त था। उत्तरवर्ती काल में मृत्यु दण्ड का उल्लेख मिलता है। उस समय अपराधों का वर्गीकरण सामाजिक एवं राजनीतिक आधार पर नहीं हो पाया था। फलतः विभिन्न दण्डों की स्थिति स्पष्ट हो रही थी।[१] वैदिक काल में वाक्, धिक् के साथ अर्थ और वध दण्ड का सूत्रपात हो चुका था किन्तु स्मृतियों एवं नीति ग्रन्थों में इनका विकास होता है। उन्होंने इन ४ प्रकार के दण्डों के अवान्तर भेद भी किये हैं। इन दण्डों को कौटल्य ने भी कई बार दुहराया है। प्रमाण के लिए अर्थ दण्ड को ३५० और शारीरिक दण्ड को २० बार वे आस-पास कहा है। मनु ने शरीर दण्ड के स्थानों का भी निर्देश किया है।[२]

---

१. वैदिक इंडेक्स जिल्द १ पृ० ३९।

२. शान्ति १६७ अध्याय; मनु० ८।१२९–१३०। और ७।१२४–१२५।; याज्ञ० ५।२६७।

दण्ड के सम्पूर्ण प्रकारों का विस्तार नीति ग्रन्थों एवं स्मृतियों में उपलब्ध होता है। उनमें दण्ड के ४ भेद किए गये हैं। इनके अवान्तर भेद भी हो सकते हैं। मूलतः धिक्, वाक्, अर्थ और बध, दण्ड ही माने गये हैं।[1] इनका सम्बन्ध मानसिक, वाचिक और शारीरिक से किया जा सकता है।[2] मनु ने जेल, बन्धन और शारीरिक दण्ड के कई विभाग किये हैं।[3] सभी प्रकार के दण्डों को कौटल्य ने कई बार दुहराया है। प्रमाण के लिए अर्थ दण्ड को ३५० और शारीरिक दण्ड को २० बार के आस-पास कहा है। मनु ने शरीर दण्ड के स्थानों का निर्देश किया है।[4]

अपराध की गुरुता-लघुता, अपराधी तथा अन्य आवश्यक तत्त्वों के आधार पर दण्ड में सरलता और कठोरता आ जाती है। सामान्यतया जुर्माना, मृत्यु-दण्ड (Capital Punishment) अंगच्छेद (Mutilation) जेल, देश-निकाला, बन्धन आदि दण्ड व्यवहार में आते थे। अपराध की लघुता, अल्पव्ययस्कता, स्त्रीत्व, बृद्धत्व आदि के कारण कठोर दण्ड के स्थान पर पीटने और कोड़े लगाने की व्यवस्था थी। अर्थ और शरीर दो मूल दण्डों को नारद ने स्वीकार किया है।[5] शरीर-दण्ड जेल से प्रारम्भ होकर मृत्यु-दण्ड तक हो सकता है और अर्थ-दण्ड काकनी से प्रारम्भ होकर सर्वस्वापहरण तक।[6] याज्ञवल्क्य की तरह बृहस्पति ने भी दंड के ४ प्रकार माना है।[7]

---

१. चतुर्विशंतिरेकनवति प्रथमसाहसः। दिवशतं पञ्च शतञ्चैव मध्यमसाहसः। पट् शतं सहस्रञ्चोत्तमः। यथा सारापकारकम्। शंख लिखित उद्धृत दण्ड-विवेक पृ० २३।

२. मनु० ८।१३८।; याज्ञ० १।३२६।; नारद० ७–८।; वि० ध० सू० ४।१०।

३. मोक्षधर्म पर्व १६७ पृ० ११११।; मनु० ८।१२९–१३०।; याज्ञ० १।३६७। शुक्र पृ० २०८। बनपर्व १९१ पृ० ३१४।

४. मनु० ८ पृ० ४९१।

५. नारदीयमनुसंहिता ६ और ७।

६. नारदीयमनुसंहिता ५३ और ५४।

७. बृ० २७।४१।

दण्ड की क्रमिकता मनु आदि स्मृतिकारों ने स्वीकार किया है। उनके अनुसार पहले वाग्दंड देना चाहिए। यदि उससे अपराधी में सुधार नहीं होता तो धिग्दण्ड की व्यवस्था की जाय। इसके अनन्तर अर्थ-दण्ड और इससे भी अपराध की निवृत्ति नहीं होती तो अनन्तर बाध्य होकर मृत्यु-दण्ड दिया जाय। वाग्दण्ड और धिग्दण्ड में अन्तर यह है कि वाग्दण्ड में गुणवान अपराधी की भर्त्सना की जाती है। जैसे—"आपने यह उत्तम कार्य नहीं किया। पुनः ऐसा कार्य न कीजियेगा।" धिग्दण्ड में भर्त्सना से आगे धिक्कार है। "मत जीवित रहो। तुम्हारी हानि हो और तुम पाप के भागी बनो।"[1] वाक् और धिग्दण्ड वैदिक काल के बाद स्मृतियों तक भी चलता रहा। सामान्यतया उसका प्रयोग ब्राह्मणों के सामान्य अपराधों में किया जाता रहा है।

अर्थदण्ड

अर्थ दण्ड के अनेक भेद हैं। शंख ने प्रथमसाहस, मध्यमसाहस और उत्तमसाहस तीन भेद माना है। उनके अनुसार २४ पण से ९१ तक प्रथम साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम और ६०० से १००० पण तक उत्तमसाहस दण्ड हैं।[2] स्मृतियों आदि में पणों की संख्या में भेद हो जाता है। किन्तु उक्त तीन भेद प्रायः सभी मानते हैं।[3] नारद ने उत्तमसाहस में अंगच्छेद, देश-निष्कासन, सर्वस्व-अपहरण और मृत्यु-दण्ड माना है। पुरुष की की अपेक्षा स्त्रियों को सरल और कम दण्ड दिये जाते रहे।[4] मुद्रा के रूप में प्राप्त जुर्माना राजकोश में जमा होता था। पशु भी राजा को दिये

---

१. वाग्दंडं प्रथमं कुर्याद्धिग्दंडं तदनन्तरम्।
तृतीय धनदंडतु बधदंडमतः परम॥ मनु० ८।१२९। और इस पर कुल्लूक भट्ट।
२. शंख लिखित उद्धृत दण्डविवेक पृ० २३।
३. मनु० ८।१३८; याज्ञ० १।३२६। नारद० ७–८।; वि० ध० सू० ४।१०।
४. कात्या० (४८७) उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३२१।

जाते थे। जुर्माना में से अपेक्षित अंश पीड़ित व्यक्ति एवं उसके परिवार को दिया जाता। महापातकों में प्राप्त जुर्माना राजा नहीं लेता। वह वरुण देवता या ब्राह्मण देवता को दान दे दिया जाता था।[१] उत्तर वैदिक काल तक जुर्माना पीड़ित या ब्राह्मण को दे दिया जाता किन्तु राजशक्ति के विकास के साथ ही जुर्माना का अधिक अंश राज्य में जमा होने लगा।[२]

मृत्युदण्ड

मृत्युदण्ड अंतिम दण्ड है। प्रयास किया जाता है कि महान् से महान् अपराधों में मृत्यु-दण्ड न दिया जाय। राज्यशक्ति और राजा के सामाजिक विकास के साथ राजद्रोह या राज्य के प्रति अपराध को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इस अपराध में मृत्यु-दण्ड अवश्य दियाजाता था।[३] नीति-ग्रन्थों और स्मृतियों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट होता दिखायी पड़ता है। धर्मशास्त्र महापातकों के अपराध में मृत्यु-दण्ड का विधान करते हैं और नीतिग्रन्थ राज्य सम्बन्धी अपराधों में। मनु के अनुसार व्यक्ति यदि किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं करता तो उसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए।[४] कौटल्य ने अर्थशास्त्र में हत्या करने पर किसी भी स्तर के अपराधी को मृत्यु-दण्ड दिया है।[५] स्मृतियों ने, विशेषतया मनु ने उच्च वर्ण की स्त्री से सम्बन्ध करने पर निम्न वर्ण के लोगों को मृत्यु-दण्ड एवं उसके मांस को कुत्तों को खिला देने का विधान किया है।[६]

---

१. मनु ०९।२४३–२४७।

२. वैदिक इण्डेक्स जिल्द १ पृ० ३९२।

३. महत्स्वपराधेषु दण्डं प्राणान्तिकं त्यजेत्।
ऋते राज्यापहारान्तु युक्तदण्ड प्रशस्यते। कामन्दक।

४. मनु० ९।२३६।; बृ० हारीत ७।१९०।

५. कौ० ४।११।

६. मनु० १।२७१।;८।३६६।;याज्ञ० २।२८३–२८८।;२।२९४। वशिष्ठ०२१।१–५।

मृत्यु-दण्ड के विभिन्न प्रकार के अपराधी को विष पिला कर हाथी के पाँव के नीचे कुचलवा दिया जाता।[१] चोर के हाथ काट लेने के बाद उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता।[२] चोर को सहायता आदि देने वाले को केवल मृत्यु-दण्ड दिया जाता।[३] स्त्रियों को भी अपने मार्ग से च्युत होने तथा ऐसे अन्य अपराध में अंग-च्छेद के बाद जलाकर मृत्यु-दण्ड का नियम था।[४] कृषि के साधनों को नष्ट करने वालों को भी गले में पाषाण बाँधकर जलसमाधि के साथ मृत्यु-दण्ड दिया जाता।[५] गर्भपातिकी, पुरुष को मारने वाली स्त्री एवं बाँध तोड़ने वाली स्त्री को ऐसा ही दण्ड दिया जाता।[६] दूसरे को मारने के लिए विष देने, शंख जलाने लिए अग्नि देने वालों को बैल के आगे फेंक कर उसकी सींग से मरवा डाला जाता।[७] क्षेत्र, गृह, क्रीडावन, ग्राम आदि को जलाने वाले एवं राजपत्नी के साथ गमन करने वालों को कष्टाग्नि (वीरण से वेष्टित) से जला देने का नियम था।[८]

मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध में महाभारत शान्तिपर्व में एक कथा के प्रसंग में द्युमत्सेन और उनके पुत्र सत्यवत् का महत्त्वपूर्ण कथोपकथन है। उनके परस्पर विचार से प्रकृत विषय पर प्रकाश पड़ता है। सत्यवत् का कहना है कि महान् से महान् अपराध में भी व्यक्ति को अवसर देना चाहिए उसका

---

१. मानसोल्लास २।२०।

२. मनु० ९।२७६।

३. मनु० ९।२७१।

४. वृद्धहारीत ७।१९२; ७।२२०–२२१।

५. मनु० ९।२७९।

६. याज्ञ० २।२७८।

७. याज्ञ० २।२७९; मत्स्यपुराण २२७।२००।

८. याज्ञ० २।२

मूलघात न करना चाहिए।[1] उसके अनुसार प्रायः भोले-भाले व्यक्ति भी स्थिति विशेष में अपराध कर बैठते हैं। साथ ही अपराधी के शरीरघात हो जाने पर उसके परिवार के लोगों को कष्ट उठाना पड़ता है; जिनका अपराध में कोई हाथ नहीं रहता किन्तु अपराधी के जीवन से उन्हें आशाएँ रहती हैं। यदि अपराधी पुरोहित के सामने पुनः अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता और पुनः अपराध नहीं करता तो उसे दंड से मुक्त होने का अवसर देना चाहिए। महान् व्यक्ति को उनके व्यक्तित्व के अनुपात से सुधारने का अवसर देकर मृत्यु-दण्ड से वंचित करना चाहिए। उत्तर देते हुए द्युमत्सेन ने कहा कि पूर्वकाल में ऐसी स्थिति थी। व्यक्ति अपने व्यवहारों में सुधार करता था। प्रायः उससे अपराध कम होते थे। अपराध होने पर वे उससे मुक्त होने का प्रयास करते थे। लेकिन आज स्थिति ऐसी आ गयी है कि दण्ड देने पर भी लोग अपराध से मुक्त नहीं हो रहे हैं और प्रायः अपराध की परम्परा बढ़ रही है। फलतः शारीरिक और मृत्यु दंड अब आवश्यक हो गया है। यह समस्या महाभारत काल की है। उस समय लोग सिद्धान्ततः इस बात पर सहमत थे कि मृत्यु या शारीरिक दण्ड न दिया जाय किन्तु स्थिति ऐसी थी कि समाज से अपराध की निवृत्ति के लिए इस प्रकार के दण्ड दिये जा रहे थे।

एक तरफ जहाँ ऐसे विचार मिलते हैं[2] वहीं मृत्यु-दण्ड के प्रकार भी बड़े भीषण हैं। इसमें तीन विचार मिलते हैं। कामन्दक और शुक्र जैसे नीतिकार मानते हैं कि मृत्यु दण्ड न दिया जाय। विष्णुधर्म सूत्र की मान्यता है कि ब्राह्मण की हत्या करने वाला हो तो उसे मृत्यु दण्ड अवश्य देना चाहिए। मनु मानते हैं कि यदि अपराधी प्रायश्चित्त कर लेता है तो अपराध से मुक्त माना जायगा। लेकिन इसमें कौटल्य पूर्ण स्पष्ट हैं। उनके अनुसार

---

१. दस्यून्निहन्ति वै राजा भूयसोऽथाप्यनागसः।
भार्या माता पिता पुत्रो हन्यते पुरुषेण वै॥
न मूलघातः कर्त्तव्यः........................। शान्तिपर्व २६८। १०–११।

२. महत्स्वपराधेष्वपि दण्डं प्राणान्तिकं त्यजेत्।

किसी भी वर्ण का हो यदि बध जैसा अपराध किया है तो उसे मृत्यु-दण्ड देना चाहिए चाहे उसने ब्राह्मण बध किया है चाहे अन्य किसी जाति का।

क्रूर दण्डों के पीछे तर्क दिया जाता है कि समाज, राज्य और धर्म की रक्षा के लिए दण्ड दिये जाते थे जिनसे अपराध की पुनरावृत्तिं न हो। इसके साथ ही यह भी प्रयास किया जाता था कि क्रूर दंडों में कमी भी हो जाय। महाभारत में मृत्यु-दण्ड का निषेध किया गया है। फाह्यान के अनुसार उत्तर भारत में मृत्यु दण्ड नहीं था। आर्थिक दण्ड अवश्य दिये जाते थे। चोल एवं हर्ष के राज्य में ऐसे दण्डों की कमी के उदाहरण मिलते हैं। इस आधार पर मैकडॉनल और कीथ सिद्ध करना चाहते हैं कि बौद्धों के प्रभाव से क्रूर दण्डों में कमी हुई। अन्यत्र वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अशोक काल में भी क्रूर दण्ड ज्यों के त्यों थे। वस्तुतः उस काल में क्रूर दंडों की व्यवस्था थी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। राजा, राज्य, धर्म और उसके प्रतिपादकों को अधिक महत्त्व दिया गया। मनु ने वैदिक धर्म के विरोध और उपेक्षा करने वालों के लिए कठोर दंड का विधान किया।

अन्य दंड

मृत्यु तथा अन्य दण्ड के विस्तार से साहित्य भरा पड़ा है। उनके वर्णन से सिहरन उत्पन्न हो जाती है। यहाँ कुछ रूप सामने रखा जा रहे हैं। विष देकर, हाथी के पाँव के नीचे कुचलवाने एवं तीक्ष्ण अस्त्रों से वध के प्रायः सामान्य विधान थे। सेंध लगाने के अपराध में मनु का कहना है कि चोर का हाथ काट लेना चाहिए। इस प्रकार के दण्ड की परम्परा पेशवा काल तक चली आती है। उपलब्ध सामग्री से ज्ञात होता है कि हाथी से कुचलवाने के प्रयोग किये गये थे। अवैदिक मुगल परस्परा में इस प्रकार के प्रयोग सामान्य थे। दण्ड-विवेक मृत्यु-दण्ड का दो रूप सामने रखता है। वे अपेक्षाकृत मृदु हैं। उसके अनुसार मृत्यु-दण्ड दो प्रकार का होता है—अविचित्र और चित्र या विचित्र। तलवार से शिर काट लेना अविचित्र,

अपराधी को जला देना चित्र कहा गया है। यदि अपराधी के अंग काट कर मार डाला जाय तो उसे मिश्र कहते हैं।

चोरी या चोरी जैसे अन्य अपराध के सहायता पहुँचाने वाले को मनु सामान्य दण्ड देते हैं। छोटी जाति के व्यक्ति से उच्च वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार होने पर कठोर मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अभिभावकों की सम्पत्ति लिप्सा से यदि उनका बध कर दिया जाय तो जिन्दे कुत्ते से खिला देना चाहिए। कुलटा स्त्री के लिए दण्ड था कि उसका पति प्रमाण प्राप्त होने पर उसके यथेष्ट अंग काट सकता था। इतना अवश्य है कि उत्तरवर्ती काल की स्मृतियों में स्त्री का दण्ड कम किया गया और सामान्यतया उसे शुद्ध करने के ही उपाय स्वीकार किये गये। पति को विष देने वाली स्त्री को बैल की सींग से मरवाने का विधान था। ऐसा दण्ड उसके विभिन्न अंगों के काट लेने के बाद देना चाहिए। ग्राम आदि में अग्नि लगाने के अपराध में उस अपराधी को भी अग्नि में जला दिया जाता था।

मृत्यु-दण्ड के अतिरिक्त अन्य भी दण्ड के प्रकार थे जिनसे उस काल की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। ब्राह्मणों को धर्म का उपदेश शूद्र गर्व के साथ करने लगे तो उसके मुख एवं कान में तप्त तैल डाल देना चाहिए।[1] यदि वह द्विजातियों की जाति आदि का आक्रोश (अभिद्रोह) में नाम लेता है तो उसके मुख में प्रदीप्त दश अंगुल की लौह शलाका डाल दिया जाय।[2] अन्त्यज जिन अंगों से द्विजाति पर प्रहार करता है उन्हें काट डालना चाहिए।[3] चोरी जैसे अपराध में हाथ-पाँव काटने का सामान्य नियम था।[4] शूद्र से वेदोच्चारण करने एवं राजा को गाली देने के अपराध में

१. मनु० ८।२७२; नारद (पारुष्य) २४; वि० ध० सू० ५।२४।
२. मनु० ८।२७१।
३. मनु० ८।२७९।
४. मनु० ९।२७६–२७७; नारद परिशिष्ट ३२; याज्ञ० २।२७४।

जिह्वा-च्छेदन का दण्ड दिया जाता।[1] नकली सोना एवं निषिद्ध वस्तु बेंचने पर भी कान और नाक काट लिया जाता।[2] विशेष पातकों में शरीर पर विभिन्न प्रकार के चिह्न भी बना दिये जाते।[3] व्यभिचार में स्त्री के शिरोमुण्डन की व्यवस्था थी।[4] शरीर पर कोड़े लगवाने, देश निष्कासन आदि के प्रचुर प्रयोग होते थे।[5] देश-निष्कासन प्रायः ब्राह्मणों को मृत्यु-दण्ड के स्थान पर दिया जाता।[6] ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्ग के लोगों को भी यह दण्ड दिया जाता थी।[7]

प्रायः कहा जाता है कि भारतीयों के उग्र दण्ड विधान को मृदु करने में बौद्धों का प्रभाव है। सिद्धान्त रूप से वे इस प्रकार का प्रतिपादन कर रहे थे। लेकिन बौद्ध जातकों में दण्ड के प्रकार का जो विवरण मिलता है उसे पढ़कर रोमांच हो जाता है। यहाँ कुछ का विवरण हम देते हैं जिसे महादुक्खक्ख-सुत्तन्त में भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है। उन्होंने १२ प्रकार दिये हैं। (१) शंखमुण्डिका, शिर की चमड़ी छील कर शंख के समान बना देना, (२) राहुमुख, कानों तक मुख को फाड़ देना। (३) ज्योतिमल्लिका, शरीर में कपड़ा लपेट कर, उसे तेल से भिंगो कर आग लगा देना। (४) हस्त प्रज्योतिका, हाथों में कपड़ा लपेट उसे तेल से भिगो कर आग लगा देना। (५) एरकवर्तिका, गर्दन तक खाल उतार तक उसे घसीटना। (६) चीरकवासिका, ऊपर से खाल खींच कर कमर तक पहुँचाना और नीचे से कमर तक खाल

---

१. मनु० ८।२७०।; आप० घ० सू० २।१०।२७।१४।; गौ० १२।४।
२. याज्ञ० २।२९७।; गौ० १२।४४।; बौ० ध० सू० १।१०।१९।; मनु० ११।२३७। वि० ध० सू० ५।३–७।; मत्स्य० २२७।१६।
३. दक्ष० ७।३३। राजतरंगिणी ६।१०८।१६।
४. मनु० ८।३७०।
५. विष्णु० २।१०५।
६. गौ० १२।४४।; मनु० ९।२४१।; ८।३८०।
७. याज्ञ० २।८१।; २।१८०।; मनु० ८।११९।; वि० ध० सू० ५।१६७–१६८।

खींच देना। (७) ऐणेयक, किहुनी और घुटनों में लोहे की कीलें ठोंक देना और उन्हीं के सहारे जमीन पर टिका कर आग लगा देना। (८) षडिसंमासिका, वंशी के समान लोहे का अंकुश निगला कर फिर बाहर खींचना जिससे भीतर का गला वगैरह फट जाय। (९) काषपिणक, पैसे-पैसे भर मांस काट कर अलग करना। (१०) खारापतच्छिका, शरीर को चीर कर उसमें नमक या क्षार रगड़ना, (११) परिधिपरिवर्तिका, दोनों कानों में कील ठोंक कर उस कील को जमीन में गाड़ देना और शरीर की हड्डियाँ भीतर ही भीतर चूर कर देना और शरीर को मांस पिंड बना देना।[1]

कुछ अपराधों में जेल की सजा दी जाती। अनेक वार अपराध की आवृत्ति पर आजीवन कारावास की भी सजा की व्यवस्था थी।[2] सश्रम जेल का भी विधान था।[3] नवयुवक, वृद्ध, रुग्ण, निःसहाय, पुण्यशील एवं निष्क्रय, अपराध का जुर्माना न देने में समर्थ बन्दियों को पौर्णमासी आदि अवसरों पर मुक्त किया सकता था।[4] नये राज्य पर विजय, युवराज के अभिषेक एवं राजा को पुत्र होने के अवसर पर भी वन्दी मुक्त कर दिये जाते थे।[5] अशोक के शिलालेखों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। यह परम्परा उत्तरवर्त्ती काल में इस प्रकार विकसित हुई कि राज्य से सम्वद्ध अवसरों पर ही वन्दी मुक्त किये जाते।[6] मनु ने जेल के स्थान निर्धारण में राजमार्ग को उपयुक्त माना है जिससे अन्य लोग बन्दियों को देखकर चेतावानी प्राप्त कर सकें।

---

१. महादुक्खक्ख सुत्तन्त १।२।३।
२. विष्णु ५।७१; शुक्र ४।१।८८।
३. शुक्र१।९२, १०८–१०९।
४. कौ० २।५।
५. मनु० ९।२८८।
६. मालविकाग्निमित्र ४।५।; रघु० १७।१९।; बृहत्संहिता ४७।८१।; हर्षचरित ११ पैरा २।

क्रूर दण्डों के पीछे तर्क दिया जाता है कि समाज, राज्य और धर्म की रक्षा के लिए ऐसे दंड दिये जाते जिनसे अपराध की पुनरावृत्ति न हो। साथ ही ऐसा प्रयास किया जा रहा था कि क्रूर दण्डों की कमी हो जाय। महाभारत में मृत्यु-दण्ड का निषेध किया गया है।[1] फाह्यान के अनुसार उत्तर भारत में मृत्यु-दण्ड नहीं था। आर्थिक दण्ड अवश्य दिये जाते। चोल एवं हर्ष के राज्य में ऐसे दण्डों की कमी हो रही थी। इसी आधार पर मैकडॉनल और कीथ सिद्ध करना चाहते हैं कि बौद्ध प्रभावों ने क्रूर दण्ड में संशोधन किया।[2] किन्तु अन्यत्र वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अशोक के काल में भी क्रूर दण्ड थे।[3] जातकों में वर्णित क्रूर दण्डों की सूची देखने पर रोमांच हो जाता है। अतएव बौद्ध प्रभाव से दण्ड प्रकार में संशोधन स्वीकार करना कठिन हो जाता है। वस्तुतः उस काल में अपराध निवृत्ति के लिए क्रूर दण्डों का माध्यम स्वीकार किया गया। साथ ही राजा, राज्य और धर्म को सर्वाधिक महत्व था। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के विकास में परस्पर संघर्ष भी था। मनु ने वेदनिन्दक, नास्तिक, वेद के विपरीत आचरण करने वालों को कठोर दण्ड का विधान किया। इससे वे वैदिक धर्म पर होने वाले बौद्ध आक्रमण रोकना चाहते थे। इसमें राज्यशक्ति की भी आवश्यकता थी। अतएव राजा को दैवी रूप देने के साथ उसके प्रति विद्रोह भाव रखने वालों को भी कठोर दण्ड दिया।

★

१. महा० शा० १२।२५९।
2. Vedic Index Vol. I, 119.
३. वही पृ० ५५।

अध्याय ८

दंड और जाति

प्रथम अध्याय में हमने समाज की विकासधारा स्पष्ट करते हुए दिखाया कि भारतीय समाज कितने विभिन्न घटकों का समाहार बन पाया। इस स्थिति में उसमें विषमता भी आयी। मूलतः सामाजिक न्याय की स्थापना की गयी। एक वर्ग का परस्पर समानता का सिद्धान्त क्रियाशील होता रहा किन्तु अन्य वर्ग के साथ विषमता आ गयी। इस प्रकार की विषमता में सामाजिक विकास की धारा ही मुख्य है किन्तु उसके साथ अन्य तथ्य भी प्रस्तुत किये जाते हैं। समाज के विकास के बाद जब उसमें सामान्य स्थिति आ गयी तो यह समझना भी कठिन हो गया कि भारतीय समाज की मूल रूप रेखा क्या है? परिणामस्वरूप विषमता की स्थापना पर दृढ़ता के साथ स्थिर रहने का प्रयास किया गया किन्तु उस आधार को भुला दिया गया जिसके कारण विषमता आ गयी थी। उन आधारों के नष्ट होने पर सामाजिक न्याय की धारणा में परिवर्तन होना चाहिए था किन्तु ऐसा नहीं हो पाया। अतएव सामाजिक शिथिलता भी आयी।

सामाजिक विषमता के विवरण से हम देखेंगे कि विषमता के प्रतिपादक विषमता का आधार व्यक्ति की क्षमता, वर्तमान तथा जन्मान्तरीय, मानते हैं जब कि विषमता का व्यवहार सामुदायिक या सामाजिक रूप में होता है। व्यक्ति विशेष के गुणकर्म का कोई महत्त्व नहीं माना जाता। उत्तरवर्तीकाल की स्मृतियों में, विशेषकर मनुस्मृति में, इस प्रकार की धारणा का विकास गम्भीर रूप में हुआ। मनु के सामने बौद्ध-जैन क्रान्ति के साथ विदेशी जातियों के सम्मिश्रण की समस्या थी। वे इनके साथ सम्बन्ध रखने में मूल

भारतीय जातियों की गुरुता और उच्चता का समर्थन करते हैं। इस समर्थन का सीधा सम्बन्ध उन्होंने वेद से जोड़ना चाहा। अतएव उनकी विधि का सम्बन्ध भी अनिवार्य रूप से वेद से जोड़ दिया गया।[1]

वैदिक काल में भी सामाजिक सम्मिश्रण हुआ था। उसमें भी उत्तरवर्ती वैदिक स्थिति में उच्चता और नीचता का प्रश्न आया और उसे स्वीकार किया गया था। अतएव मनु को अपने विचार के समर्थन में वैदिक आधार प्राप्त करने में कठिनाई नहीं हुई। उनके विचारों पर बुद्ध एवं महावीर की क्रान्ति की प्रतिक्रिया क्रियाशील थी। फलतः ब्राह्मण और वेद की आस्था की स्थापना करना आवश्यक था। वेद की आस्था दृढ़ हो जाने पर ब्राह्मण वेदानुयायी होने से सर्वथा पूज्य हो सकते थे और वेदनिन्दक होने से बौद्धों को सामाजिक स्तर से च्युत किया जा सकता था। मनु ने ऐसी स्थापना बड़ी कुशलता से किया।[2] इसीलिए व्यक्तिविशेष के मानवीय आचार सामाजिक आधार पर ले आने की चेष्टा की गयी। मानव व्यवहार सामाजिक विधि-विधान सापेक्ष हुआ। उसे व्यक्तिविशेष की क्षमता से ऊपर उठा दिया गया। फलतः व्यक्ति में क्षमता होते हुए भी उसके साथ दण्ड संहिता के उन्हीं नियमों का व्यवहार किया जाता जिस समाज से वे आते थे। इस स्थिति में व्यक्तित्व की क्षमता से हीन व्यक्ति भी सामाजिक गुरुता, जिस वर्ग का वह सदस्य था यदि वह उच्च वर्गीय हो, के कारण दंड की सभी सुविधाएँ प्राप्त कर लेता। लेकिन यदि व्यक्तित्व की मर्यादा में ऊपर उठा हुआ भी व्यक्ति यदि नीच सामाजिक संगठन से आता हो तो उसे दण्ड-संहिता की सारी विषमतामूलक कठोरता स्वीकार करनी पड़ती।

---

१. यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु० २/७।

२. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ मनु० २।२११; २।२३।

वेवर के अनुसार जब हम विधि, नियम और विधि शासन में सम्बन्ध स्थापति करते हैं तो हमें न्यायविद् और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण में अन्तर करना पड़ा जाता है। न्याशास्त्र (Jurisprudence) के लिए आदर्शभूत वैधानिक लक्ष्य आवश्यक होता है और समाजशास्त्री के लिए मानवीय व्यवहार और सामाजिक शक्तियों का समन्वय आवश्यक होता है।[1] मनु न्यायविद् और समाजशास्त्री दोनों थे। एक ओर उन्होंने न्यायशास्त्र की मान्यताओं में नवीन स्थापना की और दूसरी ओर उन्होंने समाज के संगठन के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित कर दिया। इसमें उन्हें किसी अन्य स्रोत या साधन से सहायता लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनकी दृष्टि में सामाजिक न्याय का रूप जो कुछ था उसे वैधानिक वनाने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। इसीलिए मनु की सामाजिक स्थापना का भारतीय विधिशास्त्र के साथ कहीं विरोध नहीं उपस्थित होता। सामाजिक विषमता की जिस रूप में उन्होंने स्थापना की यदि किसी बौद्ध, उदारवादी या अन्य विधि-शास्त्री को उस पर अपनी मान्यता देनी पड़ती तो सम्भव था मनु के सामा-जिक विचार संशोधन की अपेक्षा करते। किन्तु स्वयं विधायक और समाज के स्रष्टा होने से उन्हें इस प्रकार की कठिनता का सामना नहीं करना पड़ा। इसके साथ वे वैदिक समाज के प्रति अत्यन्त उदारवादी थे। वैदिकों का, जो देश में महान् नेता थे, समर्थन उन्हें प्राप्त था। इसलिए मनु की स्थापना भारतीय समाज में निर्वाधरूप से क्रियाशील हो पायी। इस धारणा के साथ जो दार्शनिक तथ्य प्रस्तुत किये जाते हैं उन पर ध्यान देना आवश्यक है।

प्राचीन विचारकों ने मनुष्य को समाज से परे अपने में पूर्ण नहीं माना। समाज के माध्यम से विश्व के साथ उनका सम्बन्ध घनिष्ठ रूप में हो पाता है। वे व्यक्ति का अस्तित्व उसके सामाजिक संघटन के साथ ही मानते हैं। विधि एवं दंड के सामने व्यक्ति इकाई के रूप में नहीं उसी सामाजिक

1. Max Wever: Essays in Socioogy: Translated by H. H. Gerth and C. W. Wills. New Yark. 1946.

संघटन के साथ आता है। सामाजिक संघटनों के ऐतिहासिक निष्कर्ष और विधि सिद्धान्त के बौद्धिक स्वरूप में भेद करना आवश्यक है। इस स्थिति में ध्यान देने की बात है कि सामाजिक शक्तियाँ एवं उनका विकास, विधि की लक्ष्यात्मक व्याख्या, सामाजिक नैतिकता आदि में परस्पर अन्यतम् सम्बन्ध बना रहता है।[१] फलतः विधि का लक्ष्य सामाजिक चेतना और शक्तियों से निर्धारित होता है।[२] जिस युग में मनु सामाजिक विषमता का नवीन रूप प्रस्तुत कर रहे थे उस समय विधि का यह लक्ष्य ऊपर से थोपा नहीं गया अपितु इस के साथ सामाजिक शक्तियाँ क्रियाशील थीं। उस युग में इस प्रकार की विषमता ही सामाजिक कल्याण की स्थापना कर सकती थी। उसने ऐसा किया भी। फलतः इस प्रकार की विषमता उस समाज ने भी स्वीकार किया जिनको इस विषमता का सर्वाधिक फल उपलब्ध हुआ। उस समय किसी प्रकार की सामाजिक क्रान्ति या विरोध का रूप नहीं मिलता जो उस समाज के द्वारा हो, जो इस विषमता के विषय थे।

इस विषय को हम दूसरे रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। व्यक्ति में विषमता का आधार क्या है इसकी आन्तरिक व्याख्या करने पर ज्ञात होता है कि व्यक्ति में विभिन्नता और विशिष्टता की भावना होती है। इनसे प्रभुत्व की भावना उत्पन्न होती है। व्यक्ति अपने विचार या व्यवहार के सम्बन्ध में अपेक्षा करता है कि उसके जो भाव होते हैं अन्य उसका अनुकरण करें। इसमें कभी उसके शुद्ध मनोभाव कार्यशील होते हैं कभी शुद्ध के स्थान पर स्वार्थपूर्ण मनोभाव भी कार्य करते हैं। कभी-कभी तो केवल शक्ति का विस्तार कार्य करता है। इनके साथ व्यक्ति की शारीरिक और बौद्धिक क्षमता भी विषमता का कारण बन जाती है।

व्यक्ति क्रिया में प्रवृत्त क्यों होता है इसका सामान्य दृष्टिकोण है कि वह आनन्द, कष्ट और उद्देश्य से निर्देशित होता है। वाह्याभिप्रेत प्रभाव,

1. Neibuhr : Human Destiny. P. 266.
2. Pulzky : Theory of Law and Civil Society. (Aims and Ideals) PP. 21–25.

वर्तमान या भविष्य की हितकामना आदि मनुष्य के व्यवहारों की दिशा निर्धारण करते हैं। स्थिति की असमानता से इन धारणाओं को और बल मिलता है। क्षमता, गुण एवं प्रतिभा की असमानता अस्वीकार नहीं की जा सकती। मानवीय समाज में शक्ति, प्रतिभा या सम्पत्ति की शक्तियाँ वर्तमान हैं। स्त्री-पुरुष, शक्ति-निर्बलता, प्रतिभा-मूर्खता, अनुभव-अननुभव, गुण-दोष, सम्पत्ति-निर्धनता एवं सहयोग-विलगाव में भेद बना ही रहेगा। इससे उत्पन्न होने वाली स्थिति में सुधार तो सम्भव है किन्तु उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। फलतः व्यावहारिक समाज में असमानता बनी ही रहेगी।

सामाजिक स्थितियों एवं विकास में व्यक्ति के व्यवहारों की स्थापना होती है। सामाजिक चेतना के साथ व्यक्ति अपना समन्वय करता है। मनुष्य के विकास उसके लाभप्रद व्यवहारों के योग और उनकी उपलब्धि के साथ आगे बढ़ते हैं। व्यक्ति के व्यवहार, जो स्वयं उसकी ओर उन्मुख रहते हैं और समाज के व्यवहार, जो व्यक्ति के व्यवहार को अन्य व्यक्तियों के व्यवहार के साथ समन्वय और सुरक्षा की व्यवस्था करते हैं, में परस्पर भेद होता है। सामाजिक व्यवहार व्यक्ति के उन व्यवहारों को जो अन्य के साथ समन्वय करने के लिए तैयार नहीं है, केन्द्रीभूत करते हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकतओं को समाज के साथ ले आने के लिए बाध्य होता है क्योंकि समाज के विधिनिषेध से परे वह जा नहीं सकता।

आवश्यकताएँ मानवमात्र को अभीष्ट हैं किन्तु उनके लक्ष्य में अन्तर पड़ जाता है। लक्ष्य में व्यक्तित्वों की छाया आना अनिवार्य है। प्रारम्भिक समाज में व्यक्तित्वों की छाया अत्यन्त स्पष्ट रहती है। अतएव उस काल में विषमता से उत्पीड़न होते हुए भी समानता के लिए संघर्ष नहीं होता। मनुकाल में समानता के लिए क्रान्ति हो रही थी। इसके साथ वर्णों का स्वत्व भी स्थापित हो चुका था। यही कारण है कि आधुनिक युग की समानता का लक्ष्य उस काल में नहीं माना जा सकता था। मनु ने आवश्यकता की समानता का अनुभव किया और उसकी व्यवस्था भी की किन्तु उन्होंने स्तर की समाजिक समानता नहीं स्वीकार की।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि ऊपर हमने जितने भी तर्क सामाजिक विषमता के लिए प्रस्तुत किये सबका सम्बन्ध व्यक्ति को ईकाई से है। व्यक्ति में इस प्रकार की असमानता हो सकती है किन्तु इसके आधार पर सामाजिक असमानता की स्थापना नहीं की जा सकती। व्यक्ति में जितने अंश में न्यूनता या महत्ता होगी उसके अनुसार वह सामाजिक दण्ड या पुरस्कार प्रात कर लेगा। लेकिन उक्त आधार पर स्थिर असमानता को समाज में सामान्य रूप से स्थिर कर देंगे तो उसमें सामाजिक विषमता का सामान्य दोष आ जायगा जिसे कोई भी जागरूक समाज स्वीकार न कर सकेगा।

व्यंक्तित्वों की प्रतिष्ठा मनु ने सामाजिक कार्यक्षेत्र में किया। अतएव सामाजिक मान्यताओं में समानता का जो रूप था उसे संरक्षित करना उनके लिए आवश्यक हो गया। इस प्रकार वे यथास्थिति के विचारक हो गये। उनके अनुसार मानवीय समानता का तात्पर्य मनुष्य में अन्तर्निहित और समाज में प्रतिष्ठित क्षमता को संरक्षण देने की समानता है। उन्होंने व्यक्ति की अन्तर्वाह्य त्तमता की विषमता का दार्शनिक आधार स्वीकार किया और उसी आधार पर संरक्षण भी किया। वर्णों में आनुवंशिकता एवं वातावरण की समानता में समान गुणों एवं क्षमताओं के विकास में व्यक्ति को समाजविशेष के विभागों में स्थित 'अधिकतम्' लोगों को समान समझा। इस प्रकार परस्पर समान वर्ग में विधि की असमानता सम्भव हो सकी। उनके सम्बन्ध जो दूसरे वर्ण के साथ थे उस सम्बन्ध को सुरक्षित रखने में समानता मानी गयी। इन विचारकों के सामने व्यक्ति की इकाई नहीं उसका सामाजिक अस्तित्व भी विधि विश्लेषण से सम्बद्ध रहा। इसके पीछे वर्णमनोवृत्ति कार्य करती रही है जिसका सारांश है कि सामाजिकता के विकास के साथ वैयक्तीकरण की धारणा का ह्रास होने लगता है।

जनसंख्या के क्षेत्रीय विकास, साधनों के विकास के साथ नगरों की स्थापना और यातायात के साधनों के विकास के साथ ही श्रम विभाग पर भी प्रभाव पड़ता है। मनु ने बौद्धक्रान्ति की प्रतिक्रिया-स्वरूप श्रम को वंशा-

नुगत कर दिया। उसका सम्बन्ध विधि के साथ कर उसे वैधानिक बना देना मनु की विशेषता है। इस प्रकार स्थिर विभिन्न वर्गों में समानता अवश्य रही है किन्तु उसका आधार जन्म और वर्गविशेष से ही था। अतएव सामाजिक विषमता का प्रारूप स्थिर होता है। आज एक वयस्क सामाजिक, आर्थिक एवं जातीय संघटनों से परे ईकाई के रूप में सामने आता है। यदि उक्त सामाजिक संगठनों से अलग कर व्यक्ति को देखा जाय तो मानवमात्र की समानता की बात स्वयं सिद्ध हो जाती है क्योंकि सामाजिक संगठनों में स्थान पाने के अतिरिक्त कोई दूसरा आधार व्यक्ति के विषम होने का स्थिर नहीं होता। दूसरी बात यह है कि उक्त सम्बन्धों के हटा देने पर स्त्री, पुत्र, कुल, भृत्य आदि स्वतन्त्र ईकाई का रूप धारण कर लेते हैं। अतएव आज उनकी समानता का प्रश्न आता है किन्तु उस काल में इस प्रकार की बात इसलिए नहीं आती थी क्यों कि उनका वैधानिक उत्तरदायित्व ही दूसरे पर था। आज की स्थिति में उन्हें वैधानिक अधिकारहीन कहते हैं और उनकी समानता के लिए प्रयास को प्रगति माना जाता है।

मनु यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य असमान है। समान विचार, इच्छा और आवश्यकता के साथ ही विचार, इच्छा और आवश्यकता में असमानता बनी ही रहती है। मनु ने इस आधारभूत तथ्य का अध्ययन वर्गीय स्तर पर किया। बुद्ध के समानतावादी क्रान्ति का प्रभाव मनु पर पड़ा। उन्होंने भी समानता का तथ्य स्वीकार किया किन्तु उनकी समानता मानव में अन्तर्निहित क्षमता के आधार पर थी जिसका निर्धारण सामाजिक परिवेश में किया गया। उनके अनुसार मनुष्य की समानता का तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य में उसकी क्षमता के संरक्षण की समानता है। सामाजिक स्तर पर मानवीय क्रियाएँ समान होती हैं। अतएव मनु सामाजिक दृढ़ता प्रस्तुत करते हैं। वर्णों के उदय में उपनिषद् ने यही किया। मनु द्वारा स्वीकृत श्रम विभाग सामाजिक दृढ़ता और वैयक्तीकारण का प्रयास है। इस समाजशास्त्रीय विश्लेषण में जन्मनावर्ण के साथ प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित क्षमता के विकास के लिए स्थान नहीं रह जाता। फलतः समानता का तात्पर्य एक वर्ण की पारस्परिक

समानता हो सकती है। सामाजिक समानता का आधुनिक भाव उसमें नहीं उपलब्ध हो सकता।

वस्तुतः भारतीय विधि विचारकों की दृष्टि में विधि का आधार विधि की समानता नहीं अपितु उपयोगिता और कल्याण है। इन दो शब्दों को एक साथ रख दिया जाता है किन्तु उनके दो तात्पर्य हैं। कल्याण का महत्त्व उपयोगिता से अधिक है। कल्याण के अंश में विधि की व्याख्या सरलता से की जा सकती है। उपयोगिता का आधार और स्वरूप स्पष्ट नहीं किया जा सकता। कल्याण का सम्बन्ध आध्यात्म के साथ जिस रूप में किया जाता है उपयोगी का दृष्ट तात्पर्य वहाँ तक नहीं जा सकता। मानव सांसारिक सुख-सुविधा से अलग भी किया जा सकता है इसके साथ उपयोगिता का वही रूप हो सकता है किन्तु कल्याण को सांसारिक सन्दर्भ में देखा ही नहीं जा सकता। सूत्रकारों का कल्याण धर्म के साथ अन्यतम् रूप में सम्बद्ध रहा है। उसका संकेत भावी जीवन तक होता है। उसमें आध्यात्मिक आनन्द का स्थान इस रूप में होता है कि ऐन्द्रिक अर्थात् भौतिक आनन्द गौण कर दिया जाता है। इस स्थिति में श्रेय के लिए प्रेय हो जाता है। इस व्याख्या का सम्बन्ध जब सामाजिक सम्बन्धों से होता है तो वहाँ श्रेय के सन्निकट या उस ओर उन्मुख समाज को महत्ता दी जाती है। किन्तु जब उस समाज में इस आदर्श का पालन नहीं होता तो इस आधार पर दी गयी सुविधा सामाजिक विषमता का कारण बनने लगती है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से उस विषमता का उन्मूलन भी आवश्यक हो जाता है। ऐसी ही सुविधा के प्रति बौद्धों और जैनियों ने विद्रोह किया था।

नागरिकों की आकांक्षांओं की अधिकाधिक सन्तुष्टि ही राज्य का लक्ष्य होना चाहिए। प्राचीन एथेन्स में दासों की इच्छा अपनी स्थिति में परिवर्तन की अवश्य रही होगी। लेकिन एथेन्स राज्य की यही धारणा थी कि लक्ष्य सिद्धि के लिए दासता को अपनी सभ्यता का आधार बनाना सर्वोत्तम मार्ग है। इसलिए दास प्रथा बनाए रखने के लिए राज्य ने अपनी सम्पूर्ण बल प्रवर्त्तक शक्ति का प्रयोग किया। दासों की इच्छा की व्याख्या करते

हुए कुछ दार्शनिकों ने यह प्रयास किया कि समान अधिकार से वंचित रखने में ही दासों की भलाई है। अरस्तू के अनुसार दासों की इच्छा की सर्वाधिक सन्तुष्टि दासता में ही है।[1] अरस्तू कार्य कारण के अन्तर्ज्ञान की अपेक्षा अपने पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। उसमें सत्य और असत्य के प्रश्नों को विश्वासपूर्ण भविष्यवाणी से दबा देने का प्रलोभन है।[2] १९ वीं एवं बीसवीं शती में ब्रिटेन के समाज नायक भी इस भाव से ग्रस्त थे। मेकाले ने लोक सभा में कहा था कि सर्वमताधिकार से समाज की नींव हिल जायगी।[3] नसाऊ सीनियर के अनुसार श्रम के घण्टों को कानून द्वारा नियमित करना ब्रिटेन की उन्नति के प्रतिकूल था। ऐसे विचारक ग्रीन या रूसो आदि की धारणाओं पर ध्यान नहीं देते। उनके अनुसार व्यक्ति नैतिक प्राणी है। उसे अपने अधिकारों के उपभोग करने का स्वत्व अन्य नागरिकों के समान ही है। राज्य अधिकार के उपयोग में भेदभाव नहीं कर सकता।[4] हीगेलने भी पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने से राज्य को आत्म निश्चित परम मानस माना है। वह अपने अधिकारों के अतिरिक्त किसी सत्ता को नहीं मानता। वह पाप, पुण्य, अपमान, क्षुद्रता, धूर्तता और और प्रवंचना के अमूर्त्त नियमों को मान्यता भी नहीं देता।[5] निश्चित है कि हीगेल के राज्य ने एक आदर्शपूर्ण अभिजात वर्ग से तादात्म्य स्थापित किया जिसका पर्यवसान यहूदियों के प्रति हिटलर की नैतिकता में हुआ।

वस्तुतः राज्य एक सार्वभौम ईकाई है। उसकी एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक राज्य का भारी समुदाय उस कल्याण से वंचित है जिसे प्राप्त कराने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य के बल प्रयोग से जो लाभ उपलब्ध हो रहा हो उस पर सभी नागरिक का समान रूप से अधि-

1. Politics 1, IV, V,
२. तुलनीय : Hobhouse : Metaphysical Theory of State : P. 15.
3. Speach in House of Commons, May 3, 1842.
4. T. H. Green : Prnciples of Political Obligations. P. 443.
5. Quoted by Laski : State in Theory and Practice. P. 39.

कार होना आवश्यक है। किन्तु सभ्यता के आदि काल से लेकर धर्म, देश, जाति, सम्पत्ति आदि किसी न किसी आधार पर लाभ के स्वामित्व में विषमता का सिद्धान्त विकसित होता रहा। वर्ग विशेष के दार्शनिक इस बात की व्याख्या अपने पक्ष में करते रहे कि कुछ विशेष व्यक्ति समूह नागरिकता के विशेष अधिकारों के उपयुक्त नहीं होते। वस्तुतः वे शक्ति के किसी ऐसे क्षणिक सन्तुलन का औचित्य सिद्ध करते रहे जिसे वे शाश्वत बनाने के लिए इच्छुक थे। अरस्तू द्वारा दास प्रथा का समर्थन, लॉक द्वारा रोमन कैथोलिकों और हिटलर द्वारा यहूदियों की नागरिकता के अपवर्जन का आधार यही था। ऐसे विचारक अपने युग की परिस्थितियों से भी बंधे थे। अतएव अधिकार सम्बन्धी शाश्वत सिद्धान्तों को भी युगधर्म में परिवर्तित होना पड़ा। वर्ण-व्यवस्था का समर्थन भी इसी प्रकार का एक प्रयास रहा है। मानवीय स्वभाव, सामाजिक कल्याण एवं राज्य की सार्वभौमता से उसका सम्बन्ध नहीं। इंग्लैण्ड में पियरों की सुविधाएँ ऐसी ही हैं। उसका निर्णय सामान्य न्यायालय में नहीं हो सकता।[1] किन्तु इस प्रकार ब्राह्मण को विशेष न्यायालय की सुविधा नहीं थी। उनको सामान्य न्यायालय में भी उपस्थित होना पड़ता था। स्थानीय न्यायालयों के अतिरिक्त अन्यत्र ब्राह्मण ही प्रायः न्यायाधीश होता था। किन्तु इसे जातीय न्यायालय नहीं कहा जा सकता। कुछ स्थितिविशेष में पुरोहितों से ही ब्राह्मण के न्याय की व्यवस्था राजा करता।[2]

न्याय की विषमता और पवित्रता मानते हुए भी[3] भारतीय न्याय वर्ग एवं लिंगगत असमानता पर आधारित रहा है। इस प्रकार की विषमता का

1. Halsbury : Laws of England. Vol. 25. P. 46.
२. तस्य चेच्छास्त्रमति प्रवर्त्तेरन्। राजानं गमयेत्। राजा पुरोहितं धमार्थकुशलम्। स ब्राह्मणन्नियुंज्यात्। बलविशेषेण वधदास्य वर्जं नियमैरुपशोषयेत्। आप० ध० सू० २।५।१०।१४–१८।
३. मनु० ८।१७३।

प्रभाव न्यायिक प्रशासन में भी स्पष्ट होता है। स्मृतिकाल के पूर्व सूत्रकाल में भी ऐसी भेदमूलक न्याय व्यवस्था की नींव दृढ़ हो गयी थी।[१] सुविधा प्राप्त वर्गों ने विश्व में ऐसी विषमतामूलक न्याय व्यवस्था का व्यवहार किया।[२] इस प्रकार की विषमता धनमूल (Civil) और हिंसामूल (Criminal) दोनों में रही है।[३] अपराध एवं दण्ड के आधार और प्रयोग में भी अन्तर हो जाता है।[४] इस स्थिति में यह थ्रैसीमेकस की न्याय की परिभाषा (न्याय शक्तिमान् की इच्छा) का रूप धारण कर लेता है और उसमें राज्य का उद्देश्य लुप्त हो जाता है। वह अधिकतम के कल्याण में वर्गीय हो जाता है। इतना अवश्य है कि राज्य समाज में व्यक्ति के नियत स्थान की कठोरता और स्पष्टता के साथ सुरक्षा करता है। विषमता और सामाजिक असन्तोष जिस अनुपात में विकसित होने लगता है, राज्य की शक्ति दण्ड के रूप में अधिक व्यापक होने लगती है। उस अवस्था में राजधर्म के स्थान पर राजशक्ति का उदय हो जाता है।

वैदिक काल के प्रथम चरण में ऋत की अवस्था में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। उसका सम्बन्ध वैदिक परम्परा वाले समाज से था। अतएव उस समय वैरदेय या प्रायश्चित्त में किसी प्रकार की विषमता नहीं थी। वैदिक समाज के साथ अन्य समाजों के सम्बन्ध बढ़ने पर उसका रूप वर्गीय हो गया। इस प्रकार का संगठन विश्व के प्रायः विभिन्न समाजों में हुआ। भारतीय समाज में अन्य समाजों का ज्यों-ज्यों प्रवेश होता रहा न्याय व्यवस्था में विषमता भी उसी रूप में बढ़ती गयी। इस

---

१. आप० १।११।२४।१–४।; गौ० २२।१४–१६।; बौ० १।१०।१९।३।
2. E.Westermarck : The Origin and Development of the Moral Ideas Vol. I P. 431.
३. तै० सं० २।५।११।; मनु० ८।१४२।; याज्ञ० २।३७ और ४१।
४. नारद० १५–१६।२१।; मनु० ८।२६७–२१२।; २७९–२८१।; ८।३२३।; बृ० २२।१८।; मनु० ८।३२५, ३३४, ३३५।; महा० शान्ति० १२१।६०।

स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए दण्डशक्ति को भी दृढ़ किया जाता रहा। स्मृतिकाल तक के साहित्य में दण्ड एवं न्याय के साथ वर्गीय व्यवहारों का सम्बन्ध हो गया।

दण्ड, न्याय एवं राज्य व्यवस्था के मूलोद्देश्य से जब हम समाज के कल्याण की बात करते हैं तो उसके साथ समाज के मूल रूप पर भी ध्यान देने का प्रयास करना चाहिए। सामाजिक विषमता से न्याय एवं दण्ड में विषमता हो जाती है। लेकिन यह विषमता उसी रूप में होती है जिस रूप में वैदिक समाज का विकास हुआ। मूल वैदिक समाज को वे सभी सुविधाधाँएँ उपलब्ध हैं जो किसी भी विकसित राज्य के उद्देश्य में सम्भव हैं। उनके साथ सम्बद्ध अन्य समाजों को समानता नहीं मिल पायी। दासों, शूद्रों आदि को अन्त्यजों के साथ हम वर्गीय असुविधाएँ उपलब्ध करते हुए पाते हैं इसका तात्पर्य है कि वे वैदिक समाज के वैसे अंग नहीं जैसे द्विजाति। अतएव राज्य एवं समाज की सार्वभौम ईकाई वैदिक समाज के साथ है, शूद्रों एवं अन्त्यजों के साथ नहीं। इस धारणा से दण्ड एवं वर्ग के सम्बन्ध देखने से विषमतामूलक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कुछ विद्वान् वर्ण-व्यवस्था को सार्वभौम और विश्व-व्यापक मानते हुए इस व्यवस्था का औचित्य मानते हैं। उन्हें इस विवेचन में ध्यान देना चाहिए कि वे अपने तथ्यों के संकलन से ही अपने उद्देश्य समाप्त कर देते हैं। क्योंकि विश्व के समग्र प्राचीन समाजों में वर्गों के संगठन का आधार संघर्ष, जातीय विजय, साम्पात्तिक अपहरण, युद्ध-विजय आदि रहे हैं। यदि उनके संगठन में वर्ण-व्यवस्था का सम्पर्क स्थापित कर देते हैं तो उन विशेषताओं को भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा। दोनों में भेद देश, काल एवं परिस्थितिजन्य ही रहेगा। इसका भी परिणाम होगा कि चारों वर्ण विराट् के अभिन्न अंग नहीं बन पाएँगे।

पाश्चात्य विद्वानों ने जिस धारणा से इस व्यवस्था का अध्ययन किया उसमें दोष देखने वालों को भी तथ्य दिखायी पड़ता है। वर्ण व्यवस्था को ईश्वरीय और अनादि मानने वाले भारतीय विद्वान् पश्चिमी विद्वानों की पद्धति

को अस्वीकार अवश्य करते है किन्तु तत्स्थानीय कोई पद्धति नहीं प्रस्तुत कर पाते। वर्ण और जाति भ्रम से सामानर्थक माने जाते हैं। वर्ण शब्द रंग, या रंग वाले संघटन के अर्थ में ऋग्वेद में मिलता है किन्तु जाति अर्थ में कहीं नहीं मिलता।[१] संघटनों में दो प्रकार के तत्त्व मिलते हैं। उनमें परस्पर भिन्नता है। वे शत्रु और दास रूप में हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र का अस्तित्व है किन्तु वैश्य का नहीं। पुरुषसूक्त में वैश्य का उल्लेख है किन्तु यह ऋचा बाद में ऋग्वेद में स्थान बना पायी। क्योंकि इस ऋचा को छोड़ कर वैश्य शब्द ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं है। वैश्य का सम्बन्ध विश् से है। विश् का अर्थ है 'जन'। ब्राह्मणों, क्षत्रियों के अतिरिक्त शूद्रों से शेष सभी व्यक्ति विश् में संग्रहीत हो गये और आगे चलकर उन्होंने वैश्य का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार मूल समाज ब्राह्मण एवं क्षत्रियों का था जिन्हें वैदिक मर्यादा के साथ प्रथम स्थान मिला। उनकी परम्परा में भी विकास करने वाले 'जनों' ने वैश्य के रूप में दोनों संघटनों के साथ तृतीय स्थान प्राप्त किया। वे अग्रज हुए। अवैदिक समाजों के साथ संघर्ष चलता रहा। समाज के अंगभूत होने में शूद्र और उनसे भी बाद में सम्बद्ध होने वाले अन्त्यज हुए। इस प्रकार वर्तमान समाज जिसकी समष्टि धर्मसूत्रों से स्मृतियों तक विशेष स्पष्ट हो पायी वह केवल वैदिक नहीं है। उसमें मूल जातियों के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। वर्ण व्यवस्था का श्रेय उस समय इतना अवश्य था कि उसने बिखरे समाज को ४ या ५ भागों में संगठित कर दिया।

दंड साध्य नहीं सामाजिक कल्याण का साधन है। वैदिक समाज के विकास के साथ दंड के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ। वैदिक समाज से अंन्य

---

१. ऋ० १।७३।७।; २।३।५।; ९।९७।१५।; ९।१०४।४।; ९।१०५।४।; १०।२-४।७।; २।१२।४।; १।१७९।६।; ९।७१।२।; १।१३०।८।; ३।३४।९।; ४।१६।१७।; ४।१६।१३।; ६।४१।१।; १।१५८।५।; यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। ऋग्वेद २।१२।४।; उभौ वर्णावृषिरुग्र पुपौष। ऋ० १।१७६।६।; ब्राह्मणश्च शूद्रश्च चर्मकर्ते व्यायच्छेते। दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः असुर्य शूद्रः। तै० ब्रा० १।२।६।

समाजों के सम्बन्ध होने पर उसका रूप वर्गीय हो गया। इसका प्रभाव दंड व्यवस्था पर भी पड़ा। समाज विकास की स्थिति में दंड का प्रयोग दो उद्देश्यों सें था। एक ओर मूल वैदिक जाति के प्रभुत्व और अन्य जातियों को राज्यशक्ति के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया जा रहा था। दूसरी ओर वैदिक मर्यादा, व्यवस्था और विकास में बाधा डालने वालों को कठोर दंड-व्यवस्था की जा रही थी। फलतः मूल वैदिकों के लिए दंड की समानता हो सकती थी किन्तु समग्र समाज के लिए नहीं। यह स्थिति दास, किरात, शक, हूण, पुलिन्द, खस आदि जातियों के सम्मिश्रण और बौद्ध-जैन क्रान्तियों से और स्पष्ट हो गयी। उनकी समस्या के समाधान में दंड का वर्गीय रूप सामने आया। न्याय की निष्पक्षता एवं पवित्रता के साथ जाति एवं लिंगगत विषमता भी आ गयी।[1] स्मृति काल से पूर्व धर्मसूत्रों से यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।[2] ऐसी स्थिति दीवानी और फौजदारी दोनों में थी।[3] सामाजिक असन्तोष को दबाने एवं यथास्थिति की रक्षा के लिए दण्ड दैवी रूप में सामने आता है।[4]

वर्ण व्यवस्था का प्रभाव न्यायिक संगठन के प्रत्येक अंग पर दिखायी पड़ता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति में जातीय तत्त्व की प्रधानता है। ब्राह्मण के अभाव में अन्य जातियाँ न्यायाधीश हो सकती हैं किन्तु शूद्र कदापि

---

१. मनु० ८।१७३।
२. आप० ध० सू० २।११।२४।१–४।; गौ० २२।१४–१६।; बौ० १।१०।१९।३। तुलनीय ई० वेस्टरमार्क : दि ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट ऑफ मॉरल आइडियाज़ जि० १ पृ० ४२०।
३. तै० सं० २।५।११।; मनु० ८।१४२।; याज्ञ० २।३७,४१।
४. मनु० ८।२६७–२७२, २७९–२८१, ३२३।; बृ० २२।१८।; मनु० ८।३२५, ३३४, ३३५।; महा० शा० १२१।९०।

न्यायाधीश नहीं हो सकता।[१] व्यापारियों में उच्च स्थान प्राप्त सदस्य सभा में बैठ सकते हैं।[२] साक्षियों में भी स्वजातीय साक्षियों को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है।[३] दासों और भृतकों को ऐसे अधिकार नहीं थे। विभिन्न जातियों के शपथ और दिव्य साक्ष्य भी भिन्न थे।[४] इसी प्रकार अपराध और उसके दण्ड में भी भेद प्रस्तुत किया गया। एक ही अपराध में जातियों के आधार पर दण्ड में भेद प्रस्तुत किया गया है। एक क्षत्रिय की हत्या पर अपराधी दोष निवृत्ति के लिए १००० गाय और १ बैल दण्डस्वरूप देता है। वैश्य की हत्या पर १०० गाय १ बैल एवं शूद्र की हत्या पर १० गाय और १ बैल देना पड़ता है।[५] शूद्र और कुत्ते के मारने पर समान दण्ड था।[६] निम्न जाति का व्यक्ति उच्च जाति के व्यक्ति को जिस अंग से हानि पहुचाए उसका वह अंग काट लिया जाता।[७] इसी प्रकार का स्तर भेद पारुष्य[८] (Defamation) स्तेय[९] (Stealing) उत्तराधिकार[१०] (Inheritance) के विषय में भी पाया जाता है। राजनीतिक, समाजिक, आर्थिक कोई भी पक्ष नहीं जहाँ न्याय में भेद न किया गया हो।

---

१. मनु० ८।२०–२१।; याज्ञ० २।३ और उसी पर विज्ञानेश्वर द्रष्टव्य; विष्णु ३।७२–३।; ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत्। वैश्यं व शास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन परिवर्जयेत्। कात्या० ६७।

२. कात्या० ५८।

३. मनु० ८।७०।

४. गौ० ८।२०।२३।; मनु० ८।८८–९।; याज्ञ० २।९८।

५. बौधा० १।१०।१९।१।; आपस्तम्ब १।९।२४।१–४।

६. बौधा० १।१०।१९।६।; आपस्तम्ब १।९।२५।१३।; मनु० ११।१३२।

७. मनु० ८।२७९।; याज्ञ० २।२१५।; गौतम० १२।१।

८. गौ० १२।११–३।

९. विष्णु० ९।११–४।

१०. बौधायन० २।२।३।१०।; वशि० १७।४८–५०।; विष्णु० ३।३२।; गौ० १०।३१।; मनु० ९।१५१। याज्ञ० २।१२५।

चोरी के अपराध में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को दुगुना, शूद्र को चौगुना या आठ गुना जुर्माना किया गया है।[१] व्यास और कात्यायन ने इस अनुपात को स्तेय के अतिरिक्त सभी अपराधों में माना है।[२] ब्राह्मण के गाली या अपमान पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को १०० पण जुर्माना साथ में शारीरिक दण्ड भी सहन करना पड़ता था। यदि ब्राह्मण अन्य तीन वर्णों के साथ उक्त अपराध करता तो क्रमश ५०, २५ या १२ पण जुर्माना देना पड़ता।[३] गौतम के अनुसार शूद्र को गाली और अपमान पर ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जा सकता।[४] उच्च वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार के अपराध में शूद्र को मृत्यु दण्ड दिया जा सकता था और स्त्री के कान काट लिए जाते।[५] दण्ड के लिए दश स्थान, उपस्थ, उदर, जिह्वा, हस्त, पाद, चक्षु, नाशा, कर्ण, घन और देह कहे गये हैं। वृहस्पति दण्ड के १४ स्थान मानते हैं।[६] इससे अपराध होने पर, तीन वर्णों से उनके उन अंगों को दण्ड देना चाहिए किन्तु ब्राह्मण से अपराध होने पर अच्चत शरीर देश से निष्कासित की विधि थी।[७] किसी भी अपराध में ब्राह्मण को दण्ड नहीं दिया जा सकता, अधिक से अधिक शिरोमुण्डनपूर्वक देश से बाहर निकाल सकते हैं।[८] नारद ने देश

---

१. गौ० १२।१५–१६।; मनु० ८।३३८–३९।
२. येन दोषेण शूद्रस्य दण्डो भवति धर्मतः।
तेन चेत्क्षत्रियाणां द्विगुणो भवेत् ।। कात्या० ४०५ उद्धृत स्मृ० चं० २।१८७।
प्रायश्चित्तं च दण्डं च शौचं चातो यथाक्रमम्। कल्प्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टे मध्यं मध्यमेऽधमम्। व्यास उद्धृत याज्ञ० १।१७ पर विश्वरूप।
३. गौ० १२।१।८।१२।; मनु० १३।२६७–२६८।; याज्ञ २।२०६–२०७।
४. गौतम० १२।१३।
५. याज्ञ० २।२८६।
६. वृह० से० बु० ई० पृ० ३३८ श्लोक ९–१०।
७. मनु० ८।१२४,१२५।
८. गौ० १२।४३।; कौ. ४।८।८।; मनु० ८।१२५,३८०, ३८१।; याज्ञ. २।२७०।; विष्णु ५।१–८।; वृ० ११।; वृद्धहारीत ७।१९१।

निष्काशन के स्थान पर नगर निष्कासन माना है। निष्कासन शिरोमुंडन के बाद गधे पर बैठा और ललाट पर पाप चिह्न अंकनपूर्वक करना चाहिए।[1] यम के अनुसार ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए।[2] किस अपराध पर क्या चिह्न ललाट पर अंकित करना चाहिए इसका उल्लेख मिताक्षरा ने मनु के आधार पर किया है। उनके अनुसार गुरूपत्नीगमन में भग, सुरापान में सुराध्वज, चोरी में कुत्ते के पंजे का चिह्न अंकित करना चाहिए।[3]

लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि ब्राह्मण को दण्ड ही नहीं दिया जाता था। प्रायश्चित्त करने पर ललाट पर चिह्न नहीं बनाया जाता। अनिच्छा से पाप करने पर ब्राह्मण को मध्यम साहस दण्ड देना चाहिए या देश निष्कासित किया जाता।[4] गौतम ने अनुसार पुनः अपराध करने पर ब्राह्मण का सर्वस्व अपहरण कर, जमानत जब्त कर, नगर में चोर के रूप में घोषित कर एवं ललाट पर चिह्न अंकित कर उसे देश से निकाल दे।[5] स्मृतिचन्द्रिका ने ब्राह्मण को दण्ड देनें के सम्बन्ध में शंख लिखित और कात्यायन के वचन

---

१. वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणेऽर्हति।
शिरोमुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्॥ ललाटे चाभिशस्तांकः प्रयाणं गर्दभेन च॥ नारद (साहस ९–१०); राजतरंगिणी ४।८२–१०५।

२. न शारीरो ब्राह्मणस्य दण्डो भवति कर्हिचित्।
अवध्या ब्राह्मणा गावो लोकोऽस्मिन्वैदिकी श्रुते॥ यम उद्धृत स्मृ० चं० २ पृ० ३१७।

३. याज्ञ० २।२७० पर मिताक्षरा द्वारा मनु० ९।२३७। वचन।; राजतरंगिणी ४।९६–१०६।; प्राचीन रोम तथा १६९९ तक ब्रिटेन में चोरी में टी और बध में एम अक्षर करने का नियम था। द्रष्टव्य : Barn : The Story of Punishment. P. 63.

४. मनु० ९।२४०–२४१।

५. गौ० १२।४४।

उद्धृत करते हुए कहा है कि माता-पिता, स्नातक, पुरोहित, परिव्राजक, वान-प्रस्थ, जन्म-कर्म-श्रुतिशील-आचारवान् को दण्ड न देने का तात्पर्य शारीरिक दण्ड न देने से है, उनको दण्ड तो दिया ही जा सकता है।[1] इसका स्पष्टी-करण मेधातिथि से और हो जाता है।[2] स्मृतिचन्द्रिका ने मनु (९।२३६) के आधार पर लिखा है कि शारीरिक दण्ड न देकर ब्राह्मण को जेल की सजा दी जा सकती है।[3] ब्राह्मण पवित्र और आदर्श होता है। उसके शरीर की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। सामान्य अपराधों में जाति, पुरुष आदि का विचार न कर उनके अपराध पर विचार करना आवश्यक है। जजों की नियुक्ति, शारीरिक दण्ड, वाक्पारुष्य, धिक् और दण्डपारुष्य, व्यभिचार, ऋणादान, स्तेय आदि में भिन्नता पायी जाती है।

ब्राह्मणों को सुविधाएं हैं, साथ ही अपेक्षाकृत कठोर दण्ड भी हैं। यद्यपि इससे विधि की समानता का आधुनिक तात्पर्य नहीं प्राप्त हो सकता तथापि इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि विधि की सीमा से परे कोई भी नहीं है।[4] शंख लिखित ने राजा के पिता, परिवार, पुरोहित, अध्यापक, अरण्यवासी साधु आदि को अदण्ड्य बताया है। लेकिन इसका तात्पर्य यही है कि वे उस प्रकार के दण्ड से परे रखे जाँय, जिनकी उनमें क्षमता नहीं है; जैसे अरण्यवासी को धन दण्ड।[5] गर्भपात, स्तेय, ब्राह्मणी पर शस्त्रपात, राजा के अन्तःपुर में प्रवेश एवं किसी प्रकार के राज्यद्रोह के अपराध में ब्राह्मण को भी मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है।[6] मृच्छकटिक और विभिन्न जातक कथाओं में ब्राह्मण के मृत्यु-दण्ड के उदाहरण मिलते हैं।

---

१. स्मृ० चं० २ पृ० १२६।
२. मनु० ८।१२५। पर मेधातिथि।
३. स्मृ० चं० २ पृ० १२४।
४. मनु० ८।३३५; याज्ञ० १।३५८।
५. स्मृ० चं० २ पृ० १२६।
६. गर्भस्य पातने स्तेनो ब्राह्मण्यां शस्त्रपातने।

ब्रह्महत्या महान् और प्रायश्चित्त से परे का अपराध है।[1] लेकिन आततायी के बध में दोष नहीं माना गया[2] चाहे वह ब्राह्मण हो या गुरू आदि। वेदान्तपारग भी यदि रण में आ जाता है और अन्याय के पक्ष में है तो उसे मारने में दोष नहीं।[3] क्षत्रिय के समान युद्धरत ब्राह्मण के बध को पाप और अवैधानिक नहीं माना गया।[4] सन्मानजीवि ब्राह्मण को सम्मानहीन कर देश से निष्कासित करने पर उसे भिक्षा भी नहीं मिल सकती। उसका सामाजिक वहिष्कार करने पर मृत्युदण्ड से भी बड़ा दण्ड था। उसका सामाजिक वहिष्कार हो जाता। शिरोमुण्डित, चिह्नांकित वह सर्वधर्म वहिष्कृत होकर पृथ्वी पर दीन बनकर घूमता। ज्ञातिबन्धु-बान्धव भी उसके नहीं होते। उसे कोई नमस्कार नहीं करता।[5] यह स्थिति जेल और फाँसी से अधिक अपमान जनक थी।

अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोऽपि हि ॥ कात्या० उ० धृ० याज्ञ० २।२८१। पर विश्वरूप। राज्यकामुकमन्तःपुरप्रधर्षक भट्ट व्यभित्रोत्साहकं दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकं वा शिरो हस्तप्रदीपिकं द्योतयेत्। ब्राह्मणं तमपः प्रवेशयेत्। अर्थशास्त्र ४।२।

१. तै० सं०—५।३।१२।१—२; २।५।१।१; शत० ब्रा० १३।३।१११; गौ० २१।१। आदि।

२. मनु० ८।३५०—३५१; वि० ध० सू० ५।१८९—१९०; मत्स्य पु० २२७। ११५—११७।

३. प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
जिघासन्तं जिघासीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ शान्ति० ३४।१७।

४. उद्योग १७८।५१—५२। शान्ति० २२।५—६।

५. असम्भोज्या ह्यसंयाज्या असम्याध्याविवाहितः।
चरेयुः पृथ्वीं दीनाः सर्वधर्मवहिष्कृताः ॥
ज्ञाति सम्बिधिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।
निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम् ॥ मनु० ९।२३८—२३९।

यहाँ ब्राह्मण अवध्य, अदण्ड्य, अवंध्य, अवहिष्कार्य, अपरिवाद्य और अपरिहार्य होता है[१] किन्तु यह सुविधा वेदशास्त्रज्ञ सदाचारी ब्राह्मण के लिए ही है जातिमात्र को नहीं।[२] बार-बार उसकी आवृत्ति पर उसे सामान्य नागरिक के समान ही दण्डभागी होना पड़ता है।[३] साक्षी दोष, व्यभिचार और बलात्कार के अपराध में उसे अपेक्षाकृत अधिक जुर्माना देना पड़ता है।[४] इंग्लैंड अन्य पश्चिमी देशों में क्लर्जी तथा अन्य धार्मिक पुरुषों को ब्राह्मणों जैसी सुविधाएँ प्राप्त थीं।[५] इंग्लैण्ड का क्लर्जी जन्म से नहीं होता, उसे कठिन से कठिन दण्ड दिये जाते थे; किन्तु राज्य के न्यायालय में नहीं, अपितु पुरोहित के धार्मिक न्यायालय (Ecclesiastical Court) में ही। उन न्यायालयों की प्रक्रिया निराली थी।[१२] अभी २० वीं सदी में अमेरिकन और अंग्रेज ब्रिटिश भारत में इससे भी अधिक सुविधा की मांग करते रहे। उतनी सुविधा तो २००० वर्ष पूर्व भी ब्राह्मणों को नहीं प्राप्त थी। अपराध विधि में भारतीय न्यायाधीश उनके विवाद नहीं देख सकता था। १ वर्ष से अधिक सजा देने का अधिकार भी किसी भारतीय न्यायाधीश को नहीं था।

कुछ भारतीय विद्वानों के अनुसार जाति के आधार पर हुए दण्ड व्यवस्था में भेद होता है किन्तु उस भेद का स्वभाव (Nature) विचारणीय है। जिसमें जो क्षमता है उससे च्युत होने कर उसके अनुसार दण्ड

---

१. यत्तु षड्भिः परिहार्यो राज्ञा वध्यश्चावध्यश्चादण्ड्यश्चावहिष्कार्यापरिवाद्याश्चापरिहार्यश्चेति। गौ० ८।१२–१३।

२. प्रातिपादितवहुश्रुतविषयं ब्राह्मणमात्रविषयम्। याज्ञ० २।४ पर मिताक्षरा। गौ० ८।४–११।

३. याज्ञ० २।८१ पर मिताक्षरा।

४. मनु० ८।१२३; ८।३७८।

5. Pollok and Maitland : History of English Law. Vol. 1 PP. 424–440.
Holdsworth : History of English Law.
Halsbury : The Laws of England Vol. 25 P. 46.

दिया जाता है। यशोजीवी वर्ण के यश पर श्रम एवं धन को प्रमुखता देने वाले वर्ण आघात करते हैं तो निःसन्देह वे अपेक्षाकृत अधिक दंड के भागी होंगे।[१] यदि बुद्धिजीवी और सामाजिक नेतृत्व करने वाला वर्ण अपने बौद्धिक व्यवहार में च्युत होता है तो उसे सर्वाधिक दण्ड दिया जाता है।[२] सामान्य नागरिक को अपेक्षा राजा द्वारा अपराध होने पर सहस्त्र गुना अर्थ दण्ड दिया जाता रहा है।[3] दण्ड के प्रकार में विषमता मान भी ली जाय तो न्याय पाने एवं न्यायालय में समानता थी, चाहे वह दण्ड, दास या अनार्य ही क्यों न हो।[४] महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक विधिशास्त्र में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व से अलग हो न्याय की दृष्टि में घटित सत्य के सामने सामान्य मनुष्य के रूप में प्रस्तुत होता है क्यों कि आज विधिशास्त्र सामाजिक विधि न होकर वैधानिक नियम है। वह सामाजिक सम्पर्क को नहीं स्वीकार करती। प्राचीन न्यायव्यवस्था में सामाजिक वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। समाज के विभिन्न घटकों के सम्बन्ध भी विधि के सम्पर्क में थे। उनके नियमों का प्रभाव उन पर था। व्यक्ति न्यायालय के सामने व्यक्तित्व स्वभाव, सामाजिक सम्पर्क आदि के साथ प्रस्तुत होता था। इस पृष्ठ-भूमि में विषमता का होना दोष नहीं था।[५]

सेन महोदय तथा अन्य विद्वानों ने वर्ण व्यवस्था तथा अन्य प्रकार की विषमताओं के समन्वय करने का प्रयास करने में यह मान लिया कि व्यक्ति में

---

1. P. N. Sen : Hindu Jurisprudence P. 346.
२. अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
षोडशैवतु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टि पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्ततद्दोषगुणविद्धि सः ॥ मनु० ८।३३७–३३८।
३. कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यो प्रकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ मनु० ८।३३६।
4. P. N. Benerji : Public Administration in Anciet India. p. 170.
5, P. N. Sen : Hindu jurisprudence. p. 358.

जन्मगत विशेषताएँ हैं और उनके आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए। इसके साथ वे व्यक्ति समाज के सदस्य हैं। लेकिन व्यक्ति जिस संघटन का सदस्य है, वे स्वयं विषमता पर आधारित हैं। उन घटकों की स्थापना पूर्व कथित जातीय संबन्धों पर हुई। फलतः उनके आधार पर ही विषमता का विकास होता गया। व्यक्ति में योग्यता एवं क्षमता सहज मान लेने का सिद्धान्त भी समाजशास्त्र की अपेक्षा विषमता की सार्थकता प्रतिपादित करने वाली व्यवस्था से ही सम्बन्ध रखती है। लेकिन व्यक्ति नैतिक प्राणी है। उसे अपने अधिकारों के उपयोग करने का स्वत्व अन्य नागरिकों के समान ही है। राज्य अधिकार के उपभोग में भेद भाव नहीं कर सकता।[1]

भारतीय न्यायपालिका में दण्ड-सिद्धान्त की कटु आलोचना की गई है। आलोचकों के अनुसार भारतीय समाजशास्त्रियों ने मानव स्वभाव को हाब्स की तरह लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और स्वार्थ से पूर्ण बताया। फलतः मनुष्य स्वधर्म पालन भी भय से ही करता है जब कि मनुष्य अपने सामान्य हित की स्थापना सहज स्वभाव से करता है।[2] व्यक्तित्व (Individuality) की व्याख्या भी दोषपूर्ण ढंग से की गयी है। राज्य, समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध स्थापना में नैतिक क्षमताओं के स्थान पर भय प्रमुख माना गया। दण्ड-शक्ति की अपरिमित क्षमता का विकास अवश्यम्भावी हो गया। दण्ड का उद्देश्य समाज और व्यक्ति के स्थान पर धर्मशास्त्र की स्थापना हो गया, जो पूर्व निश्चित है। उसमें समाज या व्यक्ति कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति प्राकृतिक क्षमता के अनुकूल विकसित होकर साँचे में ढाला गया। नैतिकता की स्थापना में भी दण्ड की शक्ति और भय आधार माने गये। मात्स्यन्याय और दण्ड शक्ति ने व्यक्ति की नैतिक क्षमता को ही समाप्त कर दिया। व्यक्तित्व का जिस रूप में चित्रण किया गया है उसमें व्यक्ति की आन्तरिक क्षमता और आत्मप्रेरणा अस्वीकार

---

1. T. H. Green : Principles of Political Obligations p. 443.
2. Ibid p. 143.

कर दी गयी। व्यक्ति में कुछ अत्यन्त पवित्र अंश भी है; इस पर ध्यान नहीं दिया गया जिससे व्यक्तित्व का गठन होता है। मनुष्य स्वभाव का आधार भय मान लेने पर सहकारिता का भाव समाप्त हो जाता है, जो मानवीय स्वभाव ही नहीं भारतीय संस्कृति का भी आधार है।

इन आपत्तियों में कुछ तथ्य भी हैं किन्तु एकदेशीय। मानव स्वभाव को मूलतः पवित्र मानते हुए भी वातावरण से उत्पन्न दोषपूर्ण प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना ही दण्ड का उद्देश्य है। व्यक्ति सहज एवं सात्विक गुणों से सम्पन्न हो सकता है, समाज नहीं। समाज में गुण-दोषयुक्त व्यक्तियों का समावेश रहता है। समाज में शिष्ट का संरक्षण और दुष्टों या दुष्ट-प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक होता है। दण्ड शिष्टों के संरक्षण और दुष्टों तथा दुष्ट-प्रवृत्तियों के उन्मूलन के लिए है। इस प्रकार आत्मप्रेरणा या व्यक्ति की सहज एवं शुद्ध प्रवृत्तियों की उपेक्षा नहीं की गयी। इतना अवश्य है कि उत्तरवर्त्ती काल में व्यक्तित्व की सामाजिक स्थापना अवश्य दोषपूर्ण हो गयी। इसका प्रभाव दण्ड के उद्देश्य पर भी पड़ा। वर्गीय विषमता के विश्लेषण ने दण्ड को एकांगी बना दिया। जन्म के आधार पर सामाज विभक्त हो गया। इससे समाज एवं राज्य की समग्रता समाप्त हो गयी। सामान्य इच्छा आदि तथ्यों का अर्थ वर्गीय हो गया। इस रूप में दण्ड का आधार किसी वर्ग के लिए विनय और किसी वर्ग के लिए भयपूर्ण अवश्य हो जाता है। लेकिन इसका सम्बन्ध समाज की तत्कालीन स्थिति से है। दण्ड साधन है। वह समाज द्वारा स्वीकृत विधियों का पालन कराता है उनमें संशोधन नहीं। अतएव दण्ड का मूलोद्देश्य सामाजिक कल्याण ही माना जा सकता है। यदि दण्ड के साथ वर्गीय विषमता परिलक्षित होती है तो उसके लिए समाज उत्तरदायी है।

वस्तुतः दण्ड का उद्देश्य भी सुधार, शिक्षण और सहज गुणों में प्रत्यावर्त्तन माना गया है। प्रायश्चित्त और स्वयं पाप-कथन मानव स्वभाव के भय, ईर्ष्या और द्वेष के प्रमाण नहीं हैं। यदि बदले की भावना और दमन

ही दण्ड के तत्त्व होते तो उक्त आक्षेप मान्य हो सकते हैं। लेकिन दंड के सर्वांगीण विवेचन में वह एक अंग है जैसे समाज में कुछ जड़मतियों का होना। गौतम का सूत्र इस पर अच्छा प्रकाश डालता है। "शास्त्र में परिनिष्ठित व्यक्ति में इन्द्रिय की दुर्बलता से मार्गच्युत होने पर यह निर्वेद उत्पन्न होता है। आचार्य उसे प्रायश्चित्त विधान करता है। यदि वह उसका पालन नहीं करता तो राजसभा से उसके लिए दण्ड-व्यवस्था करानी पड़ती है।"[1] यहाँ निर्वेद, प्रायश्चित्त और राजसभा में न्याय तीन बातें ध्यान देने की हैं। स्वभावजन्य कर्मों एवं संस्कारों के विपरीत कार्य करने पर ही निर्वेद होता है। अतएव ईर्ष्या-द्वेष आदि गुणों को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। यही कारण है कि सर्वप्रथम प्रायश्चित्त का विधान किया गया जिसका सम्बन्ध आन्तरिक है। यदि वह स्वकर्म पालन नहीं करता तो राज्य भय का दण्ड आवश्यक है। अतएव भय दंड का मूल आधार नहीं, स्तर विशेष पर आवश्यक अंग माना गया है; वह भी व्यक्ति विशेष के स्वभाव पर। दंड और जाति के विश्लेषण में जाति का जो आधार समाज में स्वीकृत है; दंड उसे कार्यान्वित करता है। उसमें स्वयं कोई शक्ति नहीं है।

---

१. शास्त्रैरधिगतानामिन्द्रियदौर्बल्याद्विप्रतिपन्नानां शास्ता निर्वेदमुपदिशेद् यथाकर्म यथोक्तं तस्यचेच्छास्त्रमतिप्रवर्त्ततेरन् राजानं गमयेत्। राजा पुरोहितं धर्मार्थ-कुशलं ब्राह्मणं नियुज्यात्। बलविशेषेण वधदास्यंवर्ज नियमैरुपशोषयेत्। धर्मकोश १।५६८, ५६९।

अध्याय ६

राज्य, अपराध और दंड

किसी भी समाज में व्यक्ति की पारस्परिक-क्षति का सम्बन्ध विधि से हो जाता है। व्यक्ति अपने स्वत्व-संरक्षण में जीवन और स्वतन्त्रता की मांग करता है और उसे प्राप्त करने के सर्वसम्भव प्रयास करता है। इसके लिए उसे समाज से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है। इतने अंश में राज्य से अपने अधिकार रखने का उसे अवसर नहीं रहता; यदि वह राज्य सर्वाधिकारवादी न हो। प्रारम्भिक समाजों में अधिकार और उनके उल्लंघन का स्तर भिन्न रहता है। व्यक्ति जिन समुदायों का सदस्य होता है वे ही उसके सम्बन्ध में उत्तरदायी होते हैं। व्यक्ति उस काल में महान् उद्देश्यों के स्थान पर नियमों के वशवर्ती रहता है। यह कठिन होता है कि उस समय के व्यक्ति उसमें परिवर्त्तन की कल्पना करे। अतएव किसी भी प्रकार की क्षति प्रवृत्ति-मूलक होती है। ऋग्वेद में इसे क्रोध कहा गया और इससे ही द्रोह की स्थापना मानी गयी। क्रोध से ही व्यक्ति समाज के सामने अपराधी बनता है। "गच्छत्यनालोकग्रहं हिनस्ति परात् वा।" इस स्थिति में अपराध का सम्बन्ध राज्य के स्थान पर समाज से होता है। यही कारण है कि ऋग्वेद के वैरदेय, प्रतिदान या क्षतिपूर्ति का सम्बन्ध राज्य की अपेक्षा समाज से अधिक रहता है। लेकिन जिस स्तर पर क्षतिपूर्ति अनिवार्य मान ली जाती है उसके न मानने पर अनिवार्यता की स्थिति पूरा करने के लिए शक्तिमान् राज्य-संस्था की आवश्यकता आ ही जाती है। फलतः राज्य का सम्बन्ध अपराध और दंड से हो जाता है। इस सम्बन्ध-स्थापना में दंड और राज्य के साथ शक्ति का स्वरूप भारतीय दंड में क्या है इसकी मीमांसा करना आवश्यक है।

दंड और शक्ति

दंड और शक्ति के साथ सम्बन्ध स्थिर करने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम विधि के आधार के साथ यह निश्चय कर लें कि विधि और शक्ति में क्या सम्बन्ध है ? विधि के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ क्रियाशील होती हैं—दैवी-प्रकाशन और कल्याणमूलक समृद्धि । विधि की परिभाषा करते समय विभिन्न विचारकों ने इस पर प्रकाश डाला और इन आधारों को स्वीकार किया ।[1] एक पक्ष मानता है कि मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करने की विधि साक्षात् दैवी प्रकाशन पर आधारित है । इसकी प्रामाणिकता संशयात्मक तर्क से नहीं की जा सकती । इस सम्बन्ध में सिद्ध और साध्य दो पहलू विशेष ध्यान रखने योग्य हैं । साध्य के सम्बन्ध में भौतिक ज्ञान अपूर्ण होते हैं । उचित और अनुचित के साक्षात् साधन न होने से उनकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती । इस धारणा के सम्बन्ध में विमर्श न कर केवल इतना ही कहना आवश्यक है कि दार्शनिक दृष्टि से यह विचारधारा मस्तिष्क का व्यायाम करा सकती है किन्तु राज्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । उसका उतना ही अंश ग्रहण किया गया जितने अंश की जड़ समाज में है । इस प्रकार की विधि ही राज्य के अभाव में भी दुर्बल की रक्षा कर पाती है ।[2] ऐसी विधि सामाजिक संघटनों के माध्यम से व्यक्त होती है । वही धर्म का रूप है । यह विश्व का प्रतिष्ठापक और मानवीय सम्बन्धों का आधार है—धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा । यहाँ शक्ति आधार नहीं बन पाती ।

---

१. चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः । जै० १।२।

२. अथातः पुरुषनिःश्रेयार्थं धर्म जिज्ञासा । ज्ञात्वा चानुतिष्ठन् धार्मिकः प्रशस्यतमो भवति । लोके प्रेत्य वा विहितो धर्मः ॥ वशिष्ठसंहिता १।१–२।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ॥ कणाद १।२।

विधि के साथ व्यक्तिविशेष की संप्रभुता से उसकी इच्छा और शक्ति का समावेश हो जाता है। यहाँ तक कि आधुनिक विधिशास्त्र में अधिकार और कर्त्तव्य 'व्यक्तिविशेष द्वारा प्रदत्त अवसर' की अपेक्षा करते हैं। यह विधि को मानवीय के साथ वैयक्तिक मान लेता है। ऑस्टिन का संप्रभु विधि में परिवर्तन एवं संशोधन ही नहीं करता अपितु उसकी इच्छा ही विधि है। इसके स्थान पर भारतीय विचारधारा में विधि क्षत्र का भी क्षत्र है। व्यक्ति विशेष की शक्ति उससे परे नहीं हो सकती। वामदेव की व्याख्या में ऋत विश्व व्यवस्थित करने की व्यवस्था है। उसका आधार आत्मकल्याण और उपयोगिता का भी रूप ग्रहण कर लेता है।[1] लेकिन इस उपयोगिता में भौतिकवादी एकांगी उपयोगिता नहीं है। उसमें व्यवस्था और उद्देश्य के साथ आत्मकल्याणमूलक उपयोगिता को स्थान दिया जाता है। इसके इस रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है किन्तु निर्बाध शक्ति का प्रयोग नहीं हो पाता।

भारतीय दार्शनिक विधि को दैवी-इच्छा नहीं दैवी-ज्ञान मानते हैं। देवता एवं ऋषि के माध्यम से व्यक्त होने वाली विधि उसकी इच्छा हो, यह आवश्यक नहीं। वह माध्यम हो सकता है किन्तु सूत्रसंचालन का स्रोत अन्य होगा। न्याय का आधार और स्वरूप इसी स्तर पर आता है। विधि का सम्बन्ध दैवी-प्रकाशन से कर देने से उसमें मानवीय दुर्बलताएं, महत्त्वाकांक्षा आदि का प्रभाव नहीं पड़ सका। फलतः वह व्यक्ति और समाज से ऊपर हो सकी। उसके साथ किसी का दबाव या अन्धश्रद्धा आदि का सम्पर्क न होकर प्रज्ञा के माध्यम से जीवन से सम्बन्ध बना रहा। इस दार्शनिक व्याख्या से विधि का सार्वभौम रूप व्यक्त होता है। इस धारणा के विकास से ही वह समाज के साथ सम्बन्ध रखती हुई भी समाज से ऊपर और उसके जन्म के पूर्व ही स्थिर हो जाती है। फलतः भारतीय विधि विकास में राजतन्त्रमूलक व्यवस्था होने पर भी विधि की संप्रभुता अक्षुण्ण रही।

---

१. अथोऽबलीयान् बलीयांसमाशसन्ते धर्मणैव यथा राज्ञैवम्।

बृ० आ० उ० १।४।१४।

भारतीय विचारकों के अनुसार विधि का आधार समानता नहीं अपितु उपयोगिता और कल्याण रहा है। इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि विधि का आधार चाहे शक्तिमान् या दैवी इच्छा हो, चाहे आर्थिक वर्ग; दोनों में प्रयुक्त शक्ति का प्रत्यक्षीकरण प्रस्तुत होता है। यहाँ तक कि दार्शनिक जब उसका स्रोत या उद्देश्य न्याय या पवित्र कर्त्तव्य मान लेते हैं तो इसकी दिशा उतनी सम्माननीय नहीं रह जाती। यह सत्य है कि न्याय उच्चस्तर का आदर्श मूल्य है किन्तु व्यावहारिक मूर्त्तरूप में इसके अन्य मूल्यों का सम्मिश्रण हो जाता है जिससे वह कभी अलग या शुद्ध नहीं किया जा सकता। कभी-कभी उच्च धारणा हमारी निर्णयात्मिका शक्ति से परे हो जाती है। उसमें कुछ भी ऐसा नहीं दिखायी देता जिसमें अत्यन्त पवित्रता और शुद्धि हो। पास्कल ने लिखा "न्याय विवाद का विषय है और शक्ति निर्विवाद का। अतएव हम शक्ति को न्याय का साथ नहीं देना चाहेंगे। इस स्थिति में यदि हम दोनों को एक कर देंगे तो शक्ति न्याय को अस्वीकार कर देगी और अन्त में घोषित कर देगी कि हम स्वयं न्याय हैं। अन्ततः 'न्यायशक्ति' के स्थान पर 'शक्तिन्याय' की स्थापना हो जायगी।" प्रोफेसर कॉन के अनुसार "१२ वीं शताब्दी में विधि के दार्शनिकों ने पूजा एवं कर्मकांड के सामने सिर झुकाया। धार्मिक न्याय में तर्क एवं जिज्ञासा के स्थान पर श्रद्धा मुख्य मानी गयी। अतएव तार्किक, नास्तिक आदि विशेषणों का प्रादुर्भाव हुआ। फलतः न्याय का तात्पर्य ही समाप्त हो गया। इसी स्थिति में अनुत्तरदायी शक्ति ने संरक्षकों का स्थान ग्रहण कर लिया।"

वैदिक विधि को सृष्टि का आधार और विकास का मूल माना गया है। चैतन्य-सत्ता स्वीकार करने पर सृष्टि सोद्देश्य और नियमबद्ध माननी पड़ेगी। भारतीय विचारक सृष्टि को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में सृष्टि विकास के पूर्व भी विधि का अस्तित्व माना जाता है। वही विधि दण्ड का मूल है। दण्ड के साथ यदि विधि की शक्ति रहती है तो वह नारायण का रूप बन सकता है। यदि उसके साथ विधि का अस्तित्व नहीं है तो वह डाकू की प्रवृत्ति बन जायगा।

दण्ड की सर्वभौम शक्ति का स्वयं आधार और उद्देश्य है। समाज द्वारा स्वीकृत विधि का पालन व्यक्ति एवं समाज के लिए आवश्यक है। इसी में दोनों के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य सम्भव हो पाते हैं। दण्ड की उत्पत्ति जनकल्याण के लिए हुई। राजशक्ति के केन्द्रीयकरण के पूर्व तक दण्ड समाज की अपेक्षा करता था। परिस्थितियों में परिवर्त्तन से उत्तरवर्त्ती काल में दण्ड को भय पर आधारित किया गया। उत्तरवर्त्ती वैदिक युग में दण्ड की उत्पत्ति का उद्देश्य ऋत, धर्म अथवा नैतिकता की रक्षा करना माना जाता था किन्तु मनु के काल में उसका उद्देश्य धर्मशास्त्र तथा उसके प्रतिपाद्य उद्देश्य की रक्षा हो गया। धर्मशास्त्रों में जीवन के नैतिक पक्षों के विधि-निषेध के साथ व्यक्ति के अधिकार ओर कर्त्तव्यों को भी शाश्वत रूप में नियत कर दिया गया। उसमें शंका उत्पन्न होते ही दण्ड का विराट् रूप सामने आ जाता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल अपने नियत कर्मों के पालन में मान ली गयी। यह स्थिति बना रखना दण्ड का उद्देश्य माना गया। दण्ड के इस उद्देश्य की स्थापना के पीछे वैदिक समाज से मनु काल तक अवैदिक जातियों के सम्मिश्रण, स्थानीय संगठनों की राजनीतिक शक्ति का ह्रास, आर्थिक विषमता का जन्म, समाज से विधि संचालन के स्थान पर समाज को निश्चित विधि से संचालित करने आदि विभिन्न कारणों का हाथ था। इस स्थिति में जनकल्याण, सामान्यहित एवं जन-इच्छा आदि का तात्पर्य समग्र समाज नहीं हो सकता था। अतएव दण्ड की प्रमुख विशेषता भय हो गयी।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि दण्ड ने दमन का रूप धारण कर लिया। वह सामान्यरूप से मनोभाव की सामाजिकता पर विशेष ध्यान देता रहा। मानसिक दुर्बलता के किसी भी पक्ष, महत्वाकांक्षा, लोभ, ईर्ष्या आदि के विकास पर नियन्त्रण रखना दण्ड का उद्देश्य माना गया। दण्ड या उसके प्रयोग की प्रमुख संस्था राज्य किसी प्रकार के अधिकार का निर्माण नहीं करता वह अधिकार को मूर्त्तरूप देता और उसे वास्तविक बनाता है।

सामान्यतया अन्य सामाजिक हित की धारणा दण्ड के माध्यम से क्रियान्वित होती है। दण्ड की पीठिका में शक्ति का भी स्थान है। लेकिन शक्ति का प्रयोग उन धारणाओं को प्रस्तुत करता है जिनसे सामाजिक हित प्राप्त हो सके। अनुशासन और आज्ञापालन के लिए दमन साधन है साध्य नहीं।[1] वह किसी संस्था या संगठन का आधार नहीं बन सकता। वोसांके के अनुसार शक्ति का कार्य, दण्ड से सम्बद्ध होने पर अपराधी को दण्ड देना ही नहीं है; उसे इस प्रकार का वातावरण प्रस्तुत करना है जिसमें अपराध की स्थिति न आ सके। ग्रीन भी यही मानते हैं कि शक्ति से किसी अधिकार की स्थापना नहीं हो सकती।[2]

दण्ड का सम्बन्ध शक्ति के साथ किस रूप में स्थिर किया जाय यह साधारण समस्या नहीं है। इसके साथ सामाजिक संघटन एवं उसका धार्मिक विवेचन आदि अपेक्षित होता है। शक्ति के बिना सामाजिक अस्तित्व भी संकटग्रस्त हो जाता है। लेकिन शक्ति को उद्दाम भी नहीं बनाया जा सकता। पश्चिम में ईसाई मत के प्रचार के साथ उपदेश का साधुवृत्ति से प्रबल विरोध भी हुआ। यदि ऐसा न हुआ होता तो उस यूरोप का जन्म न होता जिसने विश्व पर अपनी शक्ति से प्रभुत्व स्थापित किया। दण्ड और शक्ति के समन्वय के साथ हम उस अंश पर भी ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं।

जिस मंत्रद्रष्टाशक्ति का दर्शन कॉन को १२ वीं शताब्दी में हुआ, उसका अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। हमारे आचार्य गौतम का 'अवरदौर्बल्य' भीष्म का "दृष्टो हि धर्म्मोऽव्यक्तिक्रमः साहसञ्च महताम्" तथा "इन्द्राय सः प्रणमते नमते यो बलीयसे" शक्तिवादी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रतिपादन करते हैं। १९ वीं शताब्दी में व्यक्त नीत्शे के विचार इस प्रसंग में विचारणीय हैं। उन्होंने मनु पर भी अपना विचार व्यक्त किया है, उसे भी प्रस्तुत करना आवश्यक है।

1. J. S. Makenzee : Outline of Social Philosophy. P.133.
2. T. H. Green : Principles of Political Obligations. P. 140.

नीत्शे के अनुसार[1] सभी प्रकार की नैतिकता के पीछे शक्ति का हाथ होता है। यहाँ तक कि घृणा भी शक्ति के तत्त्वों का संरक्षण करती है। शक्ति की इच्छा के अभाव में तर्क, प्रतिज्ञा तथा नैतिकता निःसहाय हैं। वे शक्ति के अस्त्र हैं। शक्ति के प्रति उत्सुक हमारी इच्छा एवं कामना हमारे विचार निर्धारित करती हैं। हमारे बौद्धिक व्यवहारों का अधिक अंश अवचेतना से विकसित होता है। हमसे अननुभूत चेतन-विचार (Conscious Thinking) निर्बल हैं; क्योंकि प्रवृत्ति शक्ति की इच्छा का साक्षात् क्रियान्वयन संशोधन है। जिसे चेतना विक्षुब्ध नहीं कर सकती। आज तक की उपलब्धि में प्रवृत्ति सर्वाधिक शक्तिमान है। चेतना के व्यापार को, अविवेकपूर्ण ढंग से, अधिक महत्व दिया जाता है। चेतना का स्थान द्वितीय है वह भी उदासीन और सतही। शक्तिमान पुरुष अपनी इच्छा का रंच-मात्र अंश तर्क-विवेक (Reason) के आवरण में नहीं रखता है। उसका उसका बड़ा तर्क है–"मैं चाहता हूँ।" यहाँ इच्छा स्वयं न्याय है उसमें चेतना, दया, करुणा आदि के लिए कोई स्थान नहीं।

नीत्शे को इस बात का बड़ा दुख है कि अभिजातवर्गीय विशेषताएँ नष्ट हो रही हैं। समग्र यूरुप की नैतिकता 'हृदय को जो प्रिय लगे' के आधार पर आधारित है। शक्तिमान् अपनी शक्ति का प्रयोग करने से वंचित होने से निःशक्त की कोटि में आ गये हैं। जैसे नैतिकता शक्ति में रहती है, उसी प्रकार के मानवीय आदर्श प्राप्त करने की शक्ति सबमें नहीं; कुछ उच्चतम् में ही होती है। मनुष्यमात्र में नहीं असामान्य व्यक्ति में आदर्श होता है। संघटन या समुदाय स्वयं में आदर्श होकर शक्तिमान का अस्त्र है। जनतन्त्र का तात्पर्य सबको यथेष्ट हृदयानुकूल कार्य करने की स्वतन्त्रता देना है। इस स्वतन्त्रता में तूफान भी है। परस्पर असम्बद्धता का विकास होता है। इसका सीधा तात्पर्य है महापुरुषों के उद्भव का अभाव। यदि दलीय

1. Prof Will Durant : The Story of Philosophy : Freidrick Nietzshe. PP. 421–432.

बन्धन आदि के कारण शक्तिमान् पुरुष अवसर नहीं पाते तो राष्ट्र भी शक्तिमान् नहीं हो सकता। 'उच्च व्यक्ति' नहीं 'अधिक व्यक्ति' आदर्श हो जाते हैं। उसमें तो पुरुष नारी और नारी पुरुष बनने लगते हैं। नीत्शे के इस विचार की छाया आधुनिक युग के विचारक डीन पाउण्ड (Dean Pound) पर भी पड़ती है। उनके अनुसार आधुनिक जनतन्त्र अक्षमताओं का विकास और क्षमताओं में अविश्वास कर रहा है।[1]

अन्य विचारकों के अनुसार जनतन्त्र ने श्रमिकों को अनैतिक, निम्नवर्ग को चरित्रहीन और वैयक्तिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का ध्वंस किया है।[2] वास्तव में आधुनिक जनतन्त्र अपने उद्देश्य में असफल रहा। अब आवश्यक हो गया है कि मानवीय क्षमता को वास्तविक रूप देने के लिए नया सामाजिक प्रारूप स्वीकार किया जाय। यह नये ढंग का पूज्य-भाव (Idolatry) है कि हम जनतन्त्र की दुर्बलताओं को भी नहीं देख सकते।[3] इस नये पूज्य-भाव में नैतिक दुर्गुण अन्तर्निहित हैं।[4] पूजा के प्राथमिक प्रतीक विज्ञान के विश्लेषण में ध्वस्त हो गये। लेकिन आधुनिक युग में आधुनिक ढंग के प्रतीक स्थापित किए गये जिनका सम्मान प्राचीन काल के प्रतीकों से कथमपि कम नहीं।[5] आज के प्रतीकों के तीन विभाग किये जा सकते हैं—प्राविधिक, राजनीतिक और नैतिक। प्रथम का सम्बन्ध भौतिक है। पूँजीवादी देशों में इस पूजन प्रकार में लाखों पत्र-पत्रिकाओं में

---

1. Dean Pound : Harvard Law Review Vol. 54, P. 1105 N. 2.
2. Hammond and Hammond : The Rise of Modern Iudustry ch. XXIII, XIV P. 3.
   Schlesinger : The Politics of Freedom. ch. XI PP. 235 ff.
   Aldus Huxley : Themes and Variations. PP. 40f.
   Prof. Mannheim : Diognosis of Our Time. P. 19.
3. Radha Vinod Pal : The History of Hindu Law. P. 263.
4. Aldous Huxley : The Perennial Philosophy. P. 289.
५. वही पृ० २८७।

उसकी महत्ता के गीत गाये जाते हैं। सोवियत रूस में भी इस प्रकार के पूजन की परम्परा चल रही है। एक प्रकार से वह राज्यधर्म बन गया है। आधुनिक युग की सम्पूर्ण श्रद्धा इस प्राविधिक प्रतिमा में सन्निहित हो गयी है। उससे अधिक से अधिक महत्व प्राप्त करना ही उद्देश्य बन रहा है।

राजनीतिक पूजन के तीर्थस्थान सामाजिक और आर्थिक संघटन हैं। इन पूजकों का सम्बन्ध प्राविधिज्ञों से भी है। मनुष्य जो प्रविधि और संघटनों का निर्माण करता है उसे स्वयं सुख और प्रसन्नता की अपेक्षा होती है। इसके लिए नैतिकता का प्रश्न सामने आता है। नैतिक पुजारी ने ईश्वर के स्थान पर स्वयं अपने को सामने रख दिया। वे अपना प्रचार एवं अपने सदाचार की स्थापना करना चाहते हैं; इसमें वे ज्ञान, ईश्वर, प्रेम आदि के स्थान पर अपने व्यक्तित्व से समाज में प्रभाव विस्तार करने का प्रयास करते हैं। इसी स्थिति में नीत्शे शक्तिवाद की बात उपयुक्त होने लगती है।

किन्तु नीत्शे सभ्यता के उभय पक्ष को भूल जाता है। आज की सभ्यता गहराई और विस्तार दो रूपों में विकास कर रही है। मानव कल्याण की गहराई में वह मानवमात्र का विस्तार न कर सकी तो गहराई में पूर्णता की ओर उन्मुख होते हुए विस्तार में अधिकतम् लोगों का कल्याण और उत्थान तो कर ही रही है। दार्शनिक तथ्य यह भी है कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह हमारी भावना का प्रतिविम्ब भी हो सकता है। कहा जाता है कि नैतिक पक्ष की अपेक्षा राजनीतिक पक्ष नीत्शे का अधिक सुधरा हुआ है।[1] उसके अनुसार अभिजातवर्गीय सरकार आदर्श सरकार समझी जाती है। वह समग्र पृथ्वी पर बुद्धिमान, क्रियाशील व्यक्तियों का स्वर्गीय अस्तित्व स्वीकार करता है। इन्हीं को प्रशासक मानता है। उन व्यक्तियों को सामाजिक सांकर्य से बचाना चाहिए।[2]

---

1. Radha Vinod Pal : The History of Hindu Law. P. 265.
2. Prof Durant : The Story of Philosophy. P. 443.

नीत्शे अपने सिद्धान्त में मनु का प्रभाव स्वीकार करता है। अमेरिका का शक्तिमान वर्ग नीत्शे से प्रभावित माना जाता है। नीत्शे के अनुसार "मानवता के पुनरुद्धार के लिए विश्व को मनु का अनुसरण करना चाहिए।" उनका दर्शन जाति और धर्म-विशेष को सर्वोच्च स्थान प्रदान करने के लिए है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भारतीय नैतिकता और सदाचार की स्थापना है। वर्ण-व्यवस्था में योग्य व्यक्तित्वों की रक्षा करके ईसाई मत की विनम्रता की दुर्गन्ध दूर कर दी गयी। ईसाई धर्म दासों का है जब कि मनु का धर्म शक्ति और प्रतिभा का। मनु का राजनीतिक दर्शन, आत्मबल, पूर्णता और आत्मक्षमता पर आधारित है। दण्ड ही ऐसा अस्त्र है जिसके भय से शान्ति की स्थापना हो सकती है।" अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में भी नीत्शे मनु की प्रशंसा करते हुए लिखता है "मनु सत्य के अधिक निकट हैं। मण्डल-सिद्धान्त से सीमा-वर्त्ती राष्ट्र शत्रु और शत्रु राष्ट्र का सीमावर्त्ती राष्ट्र विजीगीषु का मित्र है।[1] इस प्रकार की घोषणा शक्तिमान् विचारक ही कर सकता है। मनु ने मानव-जीवन को सर्वाधिक कल्याण सम्पन्न बनाने का प्रयास किया है। पतन और कायरता को जन्म देना ही पाप है और उत्थान एवं शक्ति की ओर जाना पुण्य है।"

नीत्शे ने ईसाईमत को वास्तविकता से परे अतथ्य पर आधारित मानते हुए मनु की समाज व्यवस्था की अन्यतम प्रशंसा की। उसके अनुसार ईसाईमत जिन तत्त्वों की उपेक्षा करता है मनु उसको उच्चतम् और व्यावहारिक स्थान देते हैं। नीत्शे ने यहाँ तक लिखा कि मनु की बाइबिल से तुलना करना भी पाप है; क्योंकि मनु में अन्धविश्वास, भोंदी करुणा का स्वांग नहीं, जीवन के प्रत्येक अंश का दार्शनिक तथ्य है। इसमें शक्तिमान् और उच्चतम क्षमता-सम्पन्न वर्ग समाज का संचालन करता है। सामान्य जनता भी उससे आदर्श और शक्ति प्राप्त करती है। ईसाईयों ने विवाह, नारी तथा जीवन के ऐसे

१. अनन्तरमरि विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ मनु० ७।१५८।

अन्य अंश की उपेक्षा कर जीवन को अपूर्ण बनाया जब कि मनु ने नारी को शक्ति का रूप, जीवन का अनिवार्य अंग और अग्नि के समान पवित्र बनाया। नारी का श्वास सूर्य, अग्नि और जल के तत्त्वों से पवित्र माना गया। एशिया का यह महान् धर्म शक्ति से परे शक्तिमान् ब्राह्मणों की प्रतिभा की देन है। आज के 'पशु-व्यक्ति'–जिसमें वर्ग चेतना नहीं, संकर-मस्तिष्क-सम्पन्न-चाण्डाल को मनु का दर्शन कैसे समझ में आ सकता है।"

नीत्शे ने भारतीय विचार को जिस रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उसके साथ कुछ अतिरेक भी है। वह ईसाई धर्म की सामाजिकता पर आक्रमण करते हुए अतिवादी एवं प्रतिक्रियावादी भी हो गया। भारतीय समाज के समर्थन में अभिजातवर्गीय परम्परा के कतिपय अंशों को प्रस्तुत करने में उसका यही तात्पर्य रहा है। वस्तुतः भारतीय परम्परा में दण्ड एवं शक्ति में उचित समन्वय किया गया है। भारतीय दण्ड का आधार अनुशासन मानते हैं। अनुशासन सम्पन्न दण्ड से ही जीवमात्र की सुरक्षा और विद्याओं की स्थापना हो पाती है। कौटल्य ने अनुशासन को विनय माना और उसकी व्याख्या जिस प्रकार की है उसमें बौद्धिक एवं नैतिक दोनों पक्ष आ गये हैं। स्पष्ट है कि कौटल्य ने राजशक्ति को बौद्धिक एवं नैतिक क्षमताओं में परिवेष्टित करना चाहा है। मनु ने राजा के लिए वृद्ध सेवा आदि का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है उससे उस पर सामाजिक नियन्त्रण के साथ उसमें विनय की स्थापना का प्रयास किया गया है।[१]

शक्ति को दंड का आधार माना गया किन्तु उस शक्ति का आधार और उद्देश्य भी स्थिर कर दिया गया। दण्ड का सम्बन्ध राजा से प्रस्तुत करने पर उसमें राजा को स्वेच्छाधिकार नहीं दिया गया। यदि वह ऐसा करता है तो उसके समूल नष्ट होने का भय रहता है।[२] इसीलिए दण्ड के प्रयोग

१. मनु० ७।३२, ३७–३८।; अर्थशास्त्र १।५।२–३।
२. मनु० ७।३०।; कौ० १।४।४।; याज्ञ० १।३५८।

करने वाले राजा के साथ अन्य सामाजिक प्रतिनिधियों, कर्मचारियों आदि का भी सम्बन्ध लगा दिया जाता है।

कौटल्य के पूर्ववर्त्ती समाज में बौद्ध क्रान्ति हो चुकी थी। फलतः कुछ विचारक दण्ड से शक्ति को पृथक् करने की नीति का समर्थन कर रहे थे। प्रतिक्रिया में कुछ विचारक तीक्ष्ण दण्ड का प्रतिपादन कर रहे थे। कौटल्य ने इनमें समन्वय करते हुए उचित दण्ड की स्थापना की।[1] उसी का समर्थन परवर्त्ती आचार्यों ने किया।[2] दण्ड को पक्षपात से सर्वथा दूर करने का आश्वासन दिया गया। कौटल्य के अनुसार स्वार्थ, पक्षपात, शक्ति-संचय-मात्र, लोभ आदि दुष्प्रणीत दण्ड के आधार हैं। ऐसे दण्ड के प्रयोग से सामाजिक क्रान्ति हो जाती है। फलतः तपस्या में लगे परिव्राजकों तक में क्षोभ हो जाता है, गृहस्थों की तो बात ही विलग है।[3] विधिपूर्वक प्रयुक्त दण्ड ही त्रिवर्ग की प्राप्ति करा पाता है। शक्तिमद में दण्ड के दुष्प्रयोग से राजाओं के पतन के अनेकशः प्रमाण मिलते हैं।

दण्ड का शक्ति से साथ सम्बन्ध दो शब्दों से और अभिव्यक्त होता है—बल और शक्ति। बल का प्रयोग आध्यात्मिक शक्ति के लिए भी किया गया है।[4] उसके अनुसार समग्र विश्व आध्यात्मिक शक्ति से अभिभूत है। कौटल्य ने बल शब्द का प्रयोग सेना और शक्ति दो अर्थों में किया। महाभारत में भी ऐसे भाव मिलते हैं। बल की अपरिमित प्राप्ति से मस्तिष्क असन्तुलित हो जाता है। शक्ति तीन प्रकार की मानी गयी है—मन्त्र, प्रभु और उत्साह। दैवी शक्ति निर्माण, पालन और ध्वंस का कारण होती हैं।

---

१. यथार्हः दंडः पूज्यः। अर्थ० १।४।१३
२. स च दण्डो वधबन्धपरिक्लेशार्थहरणलक्षणस्तीक्ष्णमृदुमध्यमभेदेन त्रिविधः। कामन्दक २।३८ पर जयमंगला।
३. अर्थशास्त्र १।४।१५।
४. छान्दो० उप० ७।७।१।

कौटल्य ने बल और शक्ति का समन्वय किया है। बल शब्द के साथ सम्बन्ध होने पर दण्ड का रूप व्यापक हो जाता है। इस अवस्था में न्यायालय में अपराध की सजा तक ही सीमित न होकर वह समाज और राजनीति के समन्वय की पीठिका प्रस्तुत करता है। देवलोक से लेकर स्थावर-जंगम, समाज के संघटन, राजा और राज्य की प्रकृतियाँ आदि से उसका व्यावहारिक सम्बन्ध हो जाता है। उसमें सैनिक शक्ति से लेकर दैवी शक्ति तक का समन्वय होकर उसका प्रयोग मानव-कल्याण के लिए होता है।

राज्य और दण्ड

व्यक्ति जिस समाज एवं सामाजिक संघटन का सदस्य होता है उनके नियमों के पालन की पृष्ठभूमि में उसकी स्वतन्त्रता, सुरक्षा एवं अधिकार सम्भव होते हैं। सामाजिक नियमों के पालन में ऐसे भी अवसर आते हैं जब किसी शक्ति की अपेक्षा होती है जो उसके नियमों का पालन करा सकें। समाज के लिए राज्य और दण्ड ऐसी शक्तियाँ हैं जो व्यक्ति और समाज के लिए ही हैं। वंशानुगत या अन्य कारणों से हुए दासों के लिए भी सामाजिक नियम होते हैं। समाज द्वारा उन नियमों की सामाजिक स्वीकृति तक दास उनकी अवहेलना नहीं कर सकता। राज्य की दण्ड शक्ति उन नियमों के औचित्य का विश्लेषण न कर उनके पालन के लिए उत्तरदायी रहेगी। इस अवस्था में व्यक्ति द्वारा राज्य की दण्ड शक्ति की अवहेलना द्रोह समझा जाता है। अतएव सामाजिक विषयों के पालन में राज्य दण्ड-शक्ति के प्रयोग के लिए अधिकारी माना जाता है।

व्यक्ति, समाज एवं राज्य के इस प्रकार के सम्बन्ध के साथ यह भी प्रश्न उठता है कि व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान कर राज्य की दण्ड-शक्ति को क्यों स्वीकार करे? स्पष्ट है कि वह अपने कर्त्तव्य-निष्ठ अधिकारों की उपलब्धि के लिए जिस संघटन का सदस्य बना है उसके नियमों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रश्न के साथ यदि यह प्रश्न कर दिया

जाय कि व्यक्ति, समाज एवं सामाजिक संघटनों का सदस्य क्यों रहता है तो समस्या का समाधान हो जाता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति ने कर्त्तव्यों के गर्भ में ही अधिकारों की सुरक्षा पाया। अतएव वह किसी समाज या सामाजिक संघटन का सदस्य बना। व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध विकास में सम्प्रभुता एवं सरकार का ही जन्म नहीं होता अपितु यहीं से नैतिकता की आधार-शिला दृढ़ होती है। लेकिन दण्ड-शक्ति नैतिकता के आवरण में अपने को नहीं समाप्त कर देती। आत्मप्रेरणा जैसे नैतिक प्रभाव को राज्य सामान्य नियम के रूप में न मान कर व्यक्ति के कर्त्तव्य-पालन में दण्ड को आवश्यक मानता है। समाज में मद्यपान निषिद्ध है तो किसी तान्त्रिक की आत्मप्रेरणा से उसे मद्यपान की सुविधा न देकर राज्य उसे दण्ड दे सकता है। उसका यह अधिकार तब तक सुरक्षित रहेगा जब तक समाज तान्त्रिक के लिए सुरा-पान अपवाद रूप में वैध न मान ले। राज्य इस अवस्था में भी यह प्रयत्न करेगा कि तान्त्रिक के स्वांग में सामान्य नागरिक में मद्यपान न होने पाए।

व्यक्ति और समाज

वेदों से स्मृतिकाल तक जिस स्थिति का विकास हुआ उसके सामान अधिकार में वर्गमूलक दण्ड की स्थापना हो गई। लेकिन उसका भी उद्देश्य सामाजिक एवं वैयक्तिक सुरक्षा ही थी। व्यक्ति एवं समाज के समन्वय में यह संरक्षण सिद्धान्त समाजमूलक होता गया। व्यक्ति का संरक्षण सामाजिक संरक्षणों में ही माना गया। इसे मनु एवं कालिदास ने सुरक्षात्मक दण्ड माना है।[१] वे व्यभिचार एवं निरामय से समाज की सुरक्षा आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार समाज से ही वैयक्तिक विकास की सम्भावना है। महाभारत में कहा गया है कि व्यक्ति को उचित मार्ग पर ले आने के लिए उसे दण्ड दिया जाता है। समाज कल्याण में व्यक्ति के हितों पर नियन्त्रण किया जा सकता है।[२] मृत्यु एवं शारीरिक दंड व्यवस्था के पीछे समाज सुरक्षा का ही

१. मनु० ८।१२२; रघुवंश १।२५।
२. आपद्धर्म पर्व १६६ पृ० १०८४ (रे का अनुवाद)

भाव है; अन्यथा एक व्यक्ति की दुर्वृत्ति का प्रभाव समग्र समाज के सदस्यों को दुर्वृत्त बनाने में सहायक हो जाता है।[१] जिस सदस्य को इसमें विश्वास नहीं उसका सामाजिक वहिष्कार होता है। आवश्यकता पड़ने पर कठोर दण्ड मिल सकता है।[२] इस सामाजिक सुरक्षा में अपराधी व्यक्ति की उपेक्षा की जाती है।[3]

अपराधी व्यक्ति प्रतिफल में आर्थिक तथा ऐसे अन्य शुल्क मात्र से मुक्त नहीं हो सकता। मूल प्रश्न उसकी प्रवृत्ति से है। उसकी प्रवृत्ति के उन्मूलन से ही सामाजिक कल्याण सम्भव हो सकता है।[४] इस स्थिति में व्यक्ति एवं समाज के लिए राज्य की सुरक्षा आवश्यक होती है। अतएव महाभारत ने कहा कि व्यक्ति या कुटुम्ब विनाश से भी यदि राज्य की रक्षा हो सकती है तो उनकी बलि चढ़ाई जा सकतो है।[५] इस रूप में संरक्षण के माध्यम से राज्य समाज एवं व्यक्ति को दण्ड देने के अधिकार का विकास कर लेता है। राज्य के अन्य घटकों में शिथिलता एवं केन्द्रियतावादी स्थिति के विकास के साथ राज्य की सार्वभौम शक्ति का विकास होता है। अशोक की धर्म विजय से राज्य की सार्वभौम शक्ति का रूप हर्ष काल तक विकसित होता गया। कैटल्य से नीतिग्रन्थों तक 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः' का सिद्धान्त भी इसी ओर विकसित हो जाता यदि उसे विधायिका शक्ति मिल गयीहोती। अधिनायकवाद भी जन-कल्याण के नाम पर विकसित होता है। लेकिन प्राचीन भारत में राज्य की दण्ड-शक्ति समाज विधि से ऊपर हो पायी थी।

---

१. मोक्ष धर्म १६७ पृ० १११०–११११। (रे का अनुवाद)।
२. शुक्रनीति पृ० १३६। बी. के. सरकार का अनुवाद। अर्थशास्त्र पृ०२८७-२९७ शामशास्त्री का अनुवाद।
3. B. Benerjee : Criminolagy (Tagore Law Lectures). P. 7.
4. Lecky : History of European Morals. II. P. 90.
५. राजधर्मानुशासन पर्व ३३ पृ० ९६४ (रे का अनुवाद)।

राज्य की 'यद्भाव्यम्' नीति

व्यक्ति को अपने स्वभाव, रुचि और गुण के अभिव्यक्तीकरण का उतने अंश तक अवसर देना जितने में अन्य नागरिक की हानि न हो, राज्य की हानि न हो, राज्य की 'यद्भाव्यं नीति' कही जाती है। राज्य के दंड सिद्धान्त के साथ इसका विरोध है।[१] भारतीय अहिंसा नीति में इसका समावेश हो सकता है किन्तु दण्ड-सिद्धान्त के साथ नहीं। महाभारत में मानव सम्प्रदाय का विचार उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि कोई एक दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।[२] लेकिन आगे इसे अव्यवहार्य माना गया है। इससे विश्व की व्यवस्था नहीं चल सकती। यद्यपि कभी निरपराधी को भी दण्ड मिल जाता है लेकिन इस अपवाद से सामान्य सिद्धान्त का निर्धारण नहीं हो सकता है।[३] दण्ड के साधन अत्यन्त विश्वनीय न होने से दण्ड निर्दोष एवं सर्वथा पवित्र नहीं है। लेकिन उसे पवित्र बनाने का प्रयास किया जाता है।[४]

शुक्र ने यह प्रश्न उठाया कि दया से उत्पन्न गुणों के साथ समन्वय सम्भव है किन्तु व्यवहार में राजा इसे कैसे कर सकता है?[५] महाभारत ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह अहिंसा और 'यद्भाव्यं नीति' की ओर संकेत करता है।[६] इस स्थिति में राज्य-संरक्षण और यद्भाव्यं नीति का समन्वय होता है। लेकिन इस धारणा के स्थान पर राज्य सक्रिय साधन बना रहा और व्यवहार में समाज से भी सहायता लेता रहा है। सार्वजनिक स्थानों की सुरक्षा में पुलिस के साथ समाज का भी सहयोग लिया जाता है। अपराधी

---

1. Brown : Underlying Principles of Legislation. PP. 178, 182.
२. राजधर्मानुशासन पर्व ८७ पृ० ९९८ (रे का अनुवाद)
३. वही० १११ पृ० १०१२।
४. मनु० ८।१२७।
५. शुक्रनीति पृ० १३१ (बी० के० सरकार का अनुवाद)
६. मोक्षधर्म १६७ पृ० ११११ (रे का अनुवाद)

के साथ अपराध में सहयोगी को भी समान दण्ड दिया जाता। वातावरण की शुद्धि में राज्य कूटनीति का भी प्रयोग कर सकता है। मनु इस अंश में कांटे से कांटा निकालने का भी समर्थन करते हैं। अपराधी जिस संघटन, कुटुम्ब एवं जाति का होता है उन पर भी राज्य नियन्त्रण करता है। धर्म के उचित पालन न करने एवं उससे अनुचित लाभ उठाने वाले को राज्य दण्ड दे सकता है।[1] हस्तरेखा देखने वालों, चिकित्सकों, शिल्पियों, तान्त्रिकों, अमंगल भविष्यवाणी कर अर्थ प्राप्त करने वाले ज्योतिषियों आदि को घूसखोर, जुआरी, शराबी आदि की श्रेणी में रखा गया है।[2] इसमें तन्त्र आदि को अतिवैयक्तिक (गुह्य) कहा गया है। लेकिन सामाजिक कल्याण के लिए राज्य उसमें भी हस्तक्षेप करता है।[3] इस प्रकार राज्य का विधि नियन्त्रित कल्याणकारी रूप सामने आता है।

राज्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है और दण्ड राज्य का साधन। अतएव राज्य दण्ड के प्रयोग में समाज से निरपेक्ष न होकर समाज से भी सहायता लेता है। सार्वजनिक स्थानों की सुरक्षा के साथ वहाँ पुलिस एवं चर आदि का समुचित प्रबन्ध किया जाता है। समाज में अपराधों के विकास में रंच-मात्र सहयोग करने वाले को भी राज्य दण्ड दे सकता है; क्योंकि शुद्ध वातावरण प्रस्तुत करना राज्य का कर्त्तव्य है।[4] इसमें राज्य कूटनीति का भी प्रयोग कर सकता है।[5] प्राचीन भारत में व्यक्ति अपने कुल, जाति एवं सामाजिक संघटनों के सदस्य के रूप में दण्ड के सामने प्रस्तुत होता है। अपराधी व्यक्ति का उत्तरदायित्व उन सब पर माना जाता जिनसे वह सम्बद्ध रहा। अतएव अपराधी के साथ उससे सम्बद्ध को भी राज्य

१. मनु० ९।२६४–२७४।; याज्ञ० २।२८०–२८१।; कौ० ४।४।
२. मनु० ९।२५६–२६०।
३. मनु० ९।२६२–२६३।
४. मनु० ९।२६४–२६७।
५. मनु० ९।२६८।

दण्ड दे सकता है।[1] राज्य धर्म में हस्तक्षेप नहीं कर सकता किन्तु धर्म का उचित पालन न करने वाले या उससे अनुचित लाभ उठानेवाले राज्य की दण्ड-शक्ति में आ जाते हैं।[2]

राज्य का कर्त्तव्य था कि वह अपराधियों का पता लगाए। राज्य गुप्तचरों से प्रकाश और अप्रकाश (गुप्त-प्रकट) चोरों का उन्मूलन करता था। मनु ने प्रकाश और अप्रकाश की जो व्याख्या की है उसमें धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों अपराधी आ जाते हैं। घूसखोर, जुआड़ी, शराबी आदि के साथ उन्होंने लोक कण्टकों पर विशेष ध्यान दिलाया है। धर्म के नाम पर जीविका चलाने वालों को दण्ड देना राज्य का प्रथम कर्त्तव्य माना है। इससे धार्मिक अवस्था और सामाजिक वंचना का विकास होता है। हस्तरेखा देखने वालों, चिकित्सकों, शिल्पियों, तान्त्रिकों आदि से वंचना को वे प्रकाश-वंचक मानते हैं। ब्राह्मण आदि का वेश बना कर एवं अमंगल आदि की प्रस्तावना प्रस्तुत कर धन ग्रहण करने वालों को राज्य दण्ड दे सकता है।[3] इनमें तन्त्रादि जैसे प्रश्न मनु के पूर्ववर्ती काल में सर्वथा व्यक्तिगत थे। इनमें राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। किन्तु राज्य के कल्याणकारी रूप के विकास के साथ उसकी दण्ड शक्ति के क्षेत्र का भी विकास होने लगता है। इस स्तर पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का तात्पर्य समाज के अन्य सदस्य की स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा हो गयी। अतएव राज्य व्यक्ति के असामाजिक कार्यों को, चाहे वे अतिवैयक्तिक हों, दण्ड-शक्ति से रोक सकता था। उन्हें समाज द्वारा नियत कर्म में लगाना राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है।[4] मनु के अनुसार यह कार्य दण्ड से ही सम्भव है।[5]

---

१. मनु० ९।२६९–२७२ और २७४।; याज्ञ० २।२८०–२८१।; कौ० ४।४।
२. मनु० ९।२७३।
३. मनु० ९।२५६–२६०।
४. मनु० ९।२६२।
५. मनु० ९।२६३।

राज्य का उद्देश्य शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करना है। इसमें व्यक्ति और समाज दोनों की सहायता और उत्तरदायित्व अपेक्षित है। मुख्य उत्तरदायित्व राज्य का है कि वह इसके लिए सर्वसम्भव प्रयास करे। प्रकाश तथा अप्रकाश दोनों प्रकार के चोरों का पता लगाना, पकड़ना और दण्ड देना राज्य का मुख्य कार्य है।[1] राजा को चारचक्षु कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न वैयक्तिक तथा सार्वजनिक स्थानों पर चरों की नियुक्ति करके सामाजिक कटकों का शोधन करे।[2] इसमें पुराने चोरों की भी सहायता ली जा सकती है। यहाँ मनु 'कांटे से कांटे' के निकालने की नीति प्रस्तुत करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर चोरों पर आक्रमण, उनका तथा उनके सम्बन्धियों का बध भी किया जा सकता है।[3] इसमें असहयोग करने वाले समाज के सदस्यों को भी दण्ड दिया जा सकता है।[4] इन विचारों का समर्थन याज्ञवल्क्य आदि भी करते हैं।[5] चोर की अपेक्षा हत्यारे का पता लगाना और उन्हें दण्ड देना राज्य का अधिक महत्वपूर्ण कार्य माना गया है।[6] इस विषय में कौटल्य ने आशुमृतक परीक्षा आदि की विस्तृत व्यवस्था दी है।[7]

पश्चिमी जगत में १२ वीं शताब्दी के आस-पास से व्यक्तिवादी विचार-धारा के उदय होने पर 'यद्भाव्यं' नीति का प्रसार होने लगा। उसमें राज्य को तटस्थ संस्था का रूप दिया गया। यद्भाव्यं नीति का सारांश यह है कि व्यक्ति अपने स्वभाव, रुचि और गुण के अभिव्यक्तीकरण का उतने अंश तक पूर्ण अधिकार रखता है जितने में दूसरे की हानि न हो। इस सिद्धान्त का

---

१. मनु० ९।२५६–२६२।
२. मनु० ९।२६४–२६६।
३. मनु० ९।२६७–२६९।
४. मनु० ९।२७४।
५. याज्ञ० २।२८०–२८१।; कौ० ४।४।
६. वृ० २२।३४–३६।
७. कौटल्य ४।७।

विरोध राज्य के संरक्षण सिद्धान्त के विपरीत है। राज्य जब नियन्त्रण करने लगता है तब 'यद्भाव्यं नीति' सम्भव नहीं हो सकती।[1] दण्ड व्यवस्था के साथ जब इस सिद्धान्त का सम्बन्ध होने लगता है तो शंका प्रस्तुत होती है कि क्या दण्ड उचित है? क्योंकि दण्ड सिद्धान्त का 'यद्भाव्यं' नीति के साथ समग्रतया विरोध है। जैसा कि कहा गया है भारतीय विचारधारा के अहिंसा सिद्धान्त में यद्भाव्यम् नीति का समावेश तो हो जाता है किन्तु दण्ड व्यवस्था में उसे स्थान नहीं दिया जाता।

महाभारत में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए कहा गया है कि कोई एक दूसरे की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।[2] किन्तु इसे मनु का मत बताते हुए अव्यवहार्य माना गया है; क्योंकि इससे विश्व की व्यवस्था ही नहीं चल सकती। बहुत से व्यक्ति हैं जिन्हें असत्य अपराध पर भी दण्ड मिल जाता है और मर भी जाते हैं; साथ ही यह भी सत्य है कि अधिकतम व्यक्तियों को अपराध का सही दण्ड मिलता है।[3] दण्ड के साधन सर्वथा विश्वसनीय नहीं होते अतएव दण्ड कभी पूर्ण, निर्दोष एवं पवित्र नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि पूर्णता का प्रयास किया जाता है। इसीलिए अनुचित दण्ड की घृणित निन्दा भी की जाती है।[4] कभी निरपराध और पवित्र व्यक्ति भी अपराधी सिद्ध हो जाते हैं। शुक्र ने यह समस्या उठायी है। उन्होंने कहा कि दया से उत्पन्न गुणों के साथ दण्ड-सिद्धान्त का समन्वय किया जा सकता है। किन्तु व्यवहार में राजा इसके साथ समन्वय कैसे कर सकता है?[5] इसका समाधान तभी हो सकता है, जब अहिंसा और धर्म के साथ दण्ड-संहिता का विधान किया जाय। महाभारत ने इसे

1. Lecky : History of European Morals. II P. 90.
२. राजधर्मानुशासन पर्व ८७ पृ० ९९८।
३. राजधर्मानुशासन पर्व १११ पृ० १०१२।
४. मनु० ८।१२७।
५. शुक्रनीति पृ० १३१।

स्पष्ट करते हुए लिखा—यदि अहिंसा के आधार पर दण्ड की व्यवस्था की जाय तो निरपराध व्यक्ति को कभी दण्ड न भुगतना पड़े।[१] इसी अवसर पर राज्य-संरक्षण और 'यद्भाव्यं नीति' दोनों में समन्वय हो सकता है। भारतीय दण्ड-व्यवस्था में राज्य तटस्थ किन्तु क्रियाशील साधन है।

राज्य के संरक्षण सिद्धान्त के स्वरूप-विकास के साथ यह भी आवश्यक है कि वह केवल शुल्क संग्रह करने की संस्था न हो जाय। नियमों के पालन पर उसे बल देना आवश्यक है। उनके उल्लंघन के प्रतिफल में आर्थिक तथा ऐसे अन्य शुल्क से मुक्त नहीं हो सकता। सामाजिक हित नष्ट करने की उसकी प्रवृत्ति और उसका अस्तित्व तो बना ही रहता है। अतएव सामाजिक कल्याण के लिए बड़ा से बड़ा दण्ड देकर व्यक्ति की वह प्रवृत्ति और अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिए। इस रूप में संरक्षण के माध्यम से राज्य समाज एवं व्यक्ति दोनों को दण्ड देने के अधिकार का विकास कर लेता है। राज्य के अन्य घटकों में शिथिलता और केन्द्रीयतावादी स्थिति के विकास के साथ राज्य की दण्ड-शक्ति इस रूप में विकसित हो जाती है कि समाज एवं व्यक्ति उसमें आत्मसात् हो जाते हैं। अशोक की धर्म-विजय से राज्य शक्ति का सार्वभौम रूप हर्ष काल तक इसी दिशा की ओर विकसित होती गयी। नीति-ग्रन्थों में 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः' सिद्धान्त विकसित हो गया। आधुनिक अधिनायकवाद भी राज्य के कल्याणकारी मार्ग से ही विकसित होता है। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है प्राचीन भारत में राज्य दण्ड-शक्ति को साधन रूप में ही स्थिर किया गया।

अपराध का राज्य से सम्बन्ध विभिन्न पक्षों में होता है। अपराध तथा उससे विच्युति के योग्य कार्यों की घोषणा उनके अपराधों तथा विमुक्तियों से दण्ड का अनुपात तथा अपराधी के दण्ड की व्यवस्था राज्य ही करता है। प्रथम दो का संबंध विधि निर्माण या विधि घोषणा से है। तृतीय का सम्बन्ध न्यायिक क्षेत्र से है। अपराध के न्याय और प्रशासन के सम्बन्ध में आधुनिक

---

१. मोक्षधर्म पर्व १६७ पृ०११११।

जिज्ञासाओं का समाधान प्राचीन भारत में न पाने वाले विद्वान प्रायः विश्वास करते हैं कि प्राचीन भारत में दंड-संहिता थी ही नहीं। लेकिन एडवर्ड तृतीय के काल तक तो ऐसी व्यवस्था इंग्लैण्ड में थी कि व्यवहार एवं दड-विधि में निर्णायक सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती थी।[१] आज भी इस प्रकार का विभाग नहीं हो पाया है। बहुत से विषय हैं जिनका सम्बन्ध दोनों से हो जाता है। इस विषय का अध्ययन करते समय भारतीय नैतिकता, समाज-रचना, राज्य के साथ उनका सम्बन्ध आदि का विचार करना आवश्यक है। इस दृष्टि से राज्य अपराध निवृत्ति, अपराधी के सुधार, उसे कार्यक्षम बनाने तथा आवश्यकतानुसार दमन के द्वारा नैतिक समाज के विकास में साधन का कार्य करता है। इससे हम यह नहीं कह सकते कि नागरिक जीवन के ध्वंस में राज्य ने उपेक्षा की।

डॉक्टर पी० के० सेन के अनुसार भारतीय अपराध-शास्त्रियों ने व्यवहार एवं अपराध विधि में भेद कर लिया था। अपराध उनके गुणात्मक रूप में देखा जाता था कि वह कितना लोकोद्वेजक है।[२] उनका विचार था कि राजा दण्ड के द्वारा सामाजिक कल्याण की स्थापना एवं विधियों का कार्यान्वियन करे।[3] उसमें बदले की भावना नहीं थी भारतीय शास्त्रों की तुलना आज के दण्ड-विधान के साथ सर्वांगीण रूप में की जा सकती है।[४] इतना अवश्य है कि अंगच्छेद आदि जैसी व्यवस्था का समर्थन करना कठिन है किन्तु उसका सर्वथा लोप अभी तक नहीं हो पाया और १८ वीं शती तक उसका प्रयोग अधिकांश रूप में होता रहा।[५]

---

1. W. Holdsworth : History of English Law. II. 453.
2. Dr. P. K. Sen : Penalogy Old and New (Penal Seince in Ancient India) P. 124.

३. वही पृ० ८९।

४. वही पृ० ११०।

५. भारत के सम्बन्ध में विशेष द्रष्टव्य; वर्धमान का दंडविवेक। ओरियण्टल सिरीज से प्रकाशित।

भारत में उन्हें क्लेशदण्ड कहा गया और उसका भी उद्देश्य सामाजिक कल्याण ही था।

दंडापराधविधि का आधार केवल राज-शक्ति भंग ही नहीं है। वह तो राजनीतिक स्थापना की शब्दावलि का विशेष पद्ध है। विवाद के प्रारम्भ में राजकर्मचारी हो अथवा स्वयं पीड़ित व्यक्ति यह व्यवहार और दंडापराध का विभाजक तत्व नहीं हो सकता। राजा के लिए आवश्यक माना गया है कि वह बिना किसी सूचना, जनता या पीडित द्वारा स्वयं अपराध की सूचना प्राप्त करे। कुछ अंशों में दंडापराध विधि मनुष्य के बदले की भावना सिद्धान्त पर आधारित है। यदि न्याय किया जाता है तो पीडित किसी न किसी रूप में उसे देखने के लिए आता ही है। आधुनिक ढंग की पुलिस व्यवस्था के अभाव में यह आवश्यक था। मेधातिथि के अनुसार ऋण, दान आदि में उभय पक्ष स्वयं निर्णय कर लेते हैं। उसमें राज्य का हस्तपेत्त न होना चाहिए। लेकिन पक्ष यदि अपराध करता है तो अपरपक्ष के द्वारा किसी प्रकार की व्यवस्था करने पर भी राज्य द्वारा अपराध के निर्णय के माध्यम से हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा।[1]

वृहस्पति ने वादिकृत (Initiated by a Plaintiff) को विवाद पद (Titles of law) कहा है। उसे प्रकीर्णक (Certain Offences and other Subsidiary matters) जो नृपाश्रित (Depending on King) हैं, में प्रस्तुत करते हुए कहा है—"यद्यपि मनुष्य मारणादि व्यवहार भी राजा द्वारा ही देखे जाते है तथापि इनमें वादी-प्रतिवादी से प्रस्तुत साक्षी आदि से विचार कर एक पक्ष को राजा अपराधी सिद्ध कर दण्ड दे। प्रकीर्णक में तो वादी तथा उनकी सूचना के बिना ही चरों से प्राप्त सूचना के आधार पर राजा दण्ड देकर धर्म मार्ग की स्थापना कर सकता

---

१. ऋणदिषु इतरेतरे संदधत्ते न तत्र राज्ञो हस्तप्रक्षेप..........।
सहकारो तु राज्ञा अवश्यं निगृहीत्तव्यमितरेण संधीयमानोऽपि। धर्मकोश १ पृ० १६०।

है।[१] पृष्ठ ३२ पर लेखक ने नारद वचन के आधार पर हत्या, चोरी आदि को ऋण आदि से अलग किया है। प्रथम में तो चरों की सूचना पर भी राजा को कार्य करना चाहिए। कौटल्य ने धर्मस्थीय और कण्टकशोधन दो न्यायालय ही अलग बनाया है। दक्षिण के चोल शिलालेख में भी इस प्रकार के विभाग का उल्लेख है किन्तु वे विभाजन और उनके न्यायालय आधुनिक ढंग के नहीं हैं।

जहाँ तक विधि अपने हाथ में लेने का प्रश्न है सूत्रों तक इसकी व्यवस्था नहीं है। इसका मूल वैदिक काल में ही 'वैरयत्नम्' का स्थापित हो चुका था। इतना अवश्य है कि उन्हें वैधानिक रूप नहीं दिया गया था। आपस्तम्ब और बौधायन के सम्बन्ध में विचारणीय है। आपस्तम्ब वैरयत्नम् में एक गाय देने का विधान करते हैं।[२] किन्तु मूल से यह स्पष्ट नहीं होता कि किसको दी जाय—राजा, ब्राह्मण या जिसे हानि पहुँचायी है उसे। टिप्पणी में वैरयत्नम् का तात्पर्य शत्रुता का उन्मूलन माना गया—मृत व्यक्ति या उसके सम्बन्धी से। गाय सम्बन्धियों को दी जा सकती है। बौधायन ने स्पष्ट करते हुए राजा को देने के लिए कहा है।[३] पापनिवृत्ति के लिए एक बैल ब्राह्मण को देने का विधान किया है। दंड के द्वारा दूसरे पर प्रभाव डालने का भाव मनु में पाया जाता है।[४] 'प्रत्यदेश्यम्' का तात्पर्य मन्वर्थ विवृत्ति ने दूसरों के अपराध से उन्मुक्त करने के साथ में ही किया है–'अन्यस्यापि निषेधाय।' स्पष्ट है कि राज्य अपराध निवृत्ति में समाज एवं विधि के माध्यम से साधन मात्र है।

---

१. यद्यपि मनुष्यमारणादिव्यवहारा अपि नृपाश्रिता एवं तथापि तेषु वादिप्रतिवादिभ्यां स्वस्वपक्षेषु दर्शितेषु विचार्य तयोरेकतरस्यापराधिनः राज्ञानुशासनम्। प्रकीर्णके तु शिरोवादिनं विनापि चरादि मुखादवर्णाश्रमिणां दोषं श्रुत्वा विचार्य तेषां यथाविहितं दण्डं विधाय धर्म्ये पथि स्थापनमित्येवास्य तेभ्यो भेदः। दण्डविवेक पृ० २५९।

२. से० बु० ऑफ ईस्ट। जि० २ पृ० १७८–७९।

३. वही। जि० १४ पृ० २०।

४. मनु० ८।३३४।

उपसंहार

विधीय व्याख्या से विधि का उल्लंघन ही अपराध है। अतएव विधि विहीन समाज में अपराध नहीं होते। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि विधि के अभाव में अपराध को निश्चित करने वाली शक्ति का अभाव रहता है। यह कहना कठिन हो जाता है कि अपराध है क्या ? फलतः विधि संहिता के विकास एवं उसमें परिवर्त्तन के साथ अपराध संहिता में भी परिवर्त्तन होता रहता है। विधि को सामान्यतया रूढ़िवादी शक्तियाँ शाश्वत मानने का प्रयास इस लिए करती हैं कि जिससे समाज की 'यथास्थिति' सुरक्षित रहे। समाज में परिवर्त्तन होने पर उनके स्वरूप में भी परिवर्त्तन हो जाता है। लेकिन उनकी इस धारणा से समाज का विकास नहीं रुक सकता। वह होता है और ढांचे के साथ विधि में भी परिवर्त्तन कर देता है। विधि में परिवर्त्तन की गति परिलक्षित भले न हो, परिणाम स्पष्ट रहता है। परिणाम सामने आने पर उसकी समालोचना की जाय किन्तु उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पुस्तक के पीछे के अध्यायों के विवरण में स्पष्ट है कि अपराध एवं दंड-संहिता का क्रमिक विकास हुआ और उसे समाज ने स्वीकार किया; फलतः पाप-पुण्य आदि युग-सापेक्ष हो गये। स्वयं महाभारत ने कहा "एक युग का धर्म दूसरे युग का अधर्म हो सकता है।" यह सत्य इतना स्पष्ट है कि इसे सभी स्वीकार करते हैं, केवल युगधर्म, आपद् धर्म आदि की संज्ञा देते रहे हैं।

अपराध संहिता में परिवर्त्तन एवं विकास आकस्मिक नहीं है। उसके साथ समाज की शक्तियाँ कार्य करती रहती हैं। प्रथम अध्याय में समाज का जो स्वरूप रखा गया उससे वैदिक समाज या भारतीय समाज को एक ईकाई बनने में कौन-से तत्त्व स्वीकार करने पड़े, उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य की पृष्ठभूमि किस रूप में स्थिर की गयी इसकी रूप रेखा मात्र सामने प्रस्तुत की गयी। यह

विषय इतना व्यापक एवं विवादास्पद है कि उसे कुछ पृष्ठों में ही नहीं समाविष्ट किया जा सकता और न तो उस पर किसी अन्तिम सत्य की घोषणा की जा सकती है। उससे हम इतना ही कहना चाहते हैं कि भारतीय समाज विभिन्न अवयवों का संघीभूत रूप है। यह समाहार आनुषांगक नहीं है। इसके हेतु एवं परिणाम रहे हैं। उन हेतुओं ने अपराध एवं दंड के लिए क्या परिणाम प्रस्तुत किया यही सामने रखना मेरा उद्देश्य है। स्पष्ट है कि विभिन्न घटकों ने भारतीय समाज में अपने को आत्मसात् करते समय अपने अधिकार एवं कर्त्तव्य की भी मांग की। इसने ही अपराध और दंड व्यवस्था को भी विकसित किया। "एक युग का धर्म अधर्म हो गयः और अधर्म धर्म।"

अपराध के कारणों की छानबीन आज का अन्यतम विषय बन गया है। सामाजिक कारणों में प्रायः माना जाता है कि व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध में अनुचित व्यवस्था से अपराध की मनोवृत्ति का विकास होता है। वेकारिया (Beccaria) और वेन्थम (Bentham) अपराधी को समाज का साधारण सदस्य मानते हैं और अपराध को इच्छा-विशेष का परिणाम। अतएव प्रतिशोधात्मक दण्ड (Vindictive) के स्थान पर निरोधकदण्ड की व्यवस्था की गई। लैम्ब्रासो ने इस सम्बन्ध में जो प्रस्ताव रखा उससे समाज आदि के स्थान पर व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं का अध्ययन होने लगा। लेकिन इसके खण्डन में नया सिद्धान्त आया कि अपराधी जन्म से नहीं वातावरण से होते हैं। इस सिद्धान्त में भी सामाजिक शक्तियों में वैयक्तिक तत्वों पर अधिक बल दिया गया। लेकिन वातावरण प्रस्तुत करने का दायित्व समाज पर थोपा गया। गोरिंग (Goring) जैसे विचारक ने तो इसे नये रूप में सिद्ध करना चाहा कि कुछ सामाजिक वर्ग हैं जिनमें अपराध की वृत्ति पायी जाती है। मर्क्रियर (Marcier) जैसे प्रसिद्ध विद्वान ने भी व्यक्ति की आन्तरिक वृत्ति को महत्त्व दिया।

अमेरिका के विद्वानों ने अपराध की अपेक्षा अपराधी का अध्ययन आवश्यक समझा। उनके अनुसार प्रत्येक अपराधी का अपना व्यक्तित्व होता है। उसी में अपराध के कारण निहित रहते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के अध्ययन की

प्रायोगिक पद्धतियाँ क्रियाशील होने लगती हैं। जेल से लेकर जरायमपेशा करने वाली जातियों तक का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। आंकड़े प्रस्तुत किये जाते हैं। पागलपन, झक्क आदि कारणों की व्यक्तिगत एवं वंशानुगत पद्धतियाँ एवं सिद्धान्त सामने आने लगते हैं। अपराधियों में देखा जाता है कि किस किस्म के अपराधियों का अनुपात कितना है? और कितने चोरी से आते हैं, कितने डाका, कितने व्यभिचार आदि से? इनका वर्गीकरण प्रस्तुत कर सिद्ध कर दिया जाता है कि अपराध वैयक्तिक है। उस पर गरीबी आदि का भी प्रभाव पड़ता है।

बोंगर (Bonger) ने आर्थिक, यौनसम्बन्धी एवं राजनीतिक अपराधों की सूची तैयार की। लेकिन स्वयं यह वर्गीकरण व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर करता है। अमेरिका के विद्वानों ने इसका अन्य रूप देते हुए कहा कि अपराध व्यक्ति, सम्पत्ति, जनहित, सामाजिक नियम और न्याय के विपरीत होते हैं। इण्डियन पेनल कोड का वर्गीकरण इसी पर आधारित है। लेकिन यही १८३७ की अपराध संहिता है जिसे मेकाले ने ब्रिटिश शासन को भारत पर लादने के लिए प्रस्तुत किया था। इस सम्बन्ध का अध्ययन कम लोगों ने किया। इस संहिता में अपराधों की सूची से स्पष्टतया पराभूत राष्ट्र पर विजयी वर्ग की स्वीकृति प्रस्तुत होती है। आश्चर्य तो यह है कि हमारे समाज के सहज नेता 'सनातनी विद्वानों' ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की क्योंकि 'हिन्दू लॉ' में शास्त्र वचन उद्धृत हैं और वे शास्त्रों पर आधारित ही नहीं उनमें पण्डितों की राय भी ली गयी थी! लेकिन जिस दिन इस संहिता का प्रयोग हुआ उस दिन किसी की मान्यता सर्व प्रथम समाप्त हुई तो सनातनी वर्ग की। कारण स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय अपराध एवं दण्ड संहिता में जो वर्गीय विभाजन और विषमता थी वह समाप्त हो गई क्योंकि इसमें 'विधि के सामने समानता का सिद्धान्त' था। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के अपराध एवं उनके दण्ड में कोई विषमता या विशेषता नहीं मानी गयी। इसमें व्यक्ति न्यायिक ईकाई (Juristic personality) के रूप में सामने आता है किसी जाति, धर्म या वंश के साथ नहीं। वर्ण, धर्म एवं देश के आधार पर प्राप्त सभी सुविधाएं

समाप्त हो गयीं। इसके साथ फौजदारी में शास्त्र वचनों और पण्डितों का कोई महत्त्व भी नहीं रहा। दीवानी में उनका महत्त्व रहा जैसे मनु आदि ने पराभूत राष्ट्र के सदाचार स्वीकार करने की आज्ञा दी थी।

अपराध का "वैज्ञानिक अध्ययन" व्यक्ति के अध्ययन की ओर विकसित हो रहा है। व्यक्ति के मस्तिष्क, शरीर, बनावट, व्यवहार एवं उसके साथ वातावरण आदि के वैज्ञानिक अध्ययन के अनेक 'प्रायोगिक साधन' सामने आ रहे हैं। इस दृष्टिकोण की एक वाक्य में उपेक्षा करते हुए मार्क्सवादी मानते हैं कि इससे पूँजीवादी विचारक समाज की शोषणकारी व्यवस्था पर पर्दा डालना चाहते हैं। वे जिस सामाजिक पद्धति पर स्थिर हैं वहीं अपराधी की जन्मभूमि है। इस प्रश्न पर वे अपने ढंग से आते हैं। इसमें वे अपराध के साथ उसके सामाजिक सम्बन्धों का व्यापक रूप में अध्ययन करते हैं। यह मान लिया गया कि पाप एवं अपराध की न तो कोई सार्वभौम सूची है और न शाश्वत आधार। शराब पीना मुसलमानों के लिए पाप है और गोमांस हिन्दुओं के लिए। ईसाइयों के लिए दोनों पाप नहीं हैं। तीनों अपने पक्ष में शाश्वत एवं दैवी आधार प्रस्तुत करते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण इस धारणा को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त करता है और तीनों मान्यताओं का समाजशास्त्रीय रूप सामने रख देता है।

धार्मिक सुधारों से लेकर वैज्ञानिक प्रयोगों तक समाज के विभिन्न पापों को विनष्ट करने के प्रयास हुए लेकिन परिणाम में 'संरक्षित अड्डे' बने। इंग्लैंड, अमेरिका, भारत आदि देशों में ऐसे अड्डों की विधीय व्याख्याएँ हैं। ब्रिटेन में परस्त्रीगमन स्वीकृतिमूलक होने पर न्यायालय का विषय नहीं है। यदि उसके आर्थिक आधार पर अड्डे बनते हैं तो अपराध है। प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्र में लाटरी, रेस आदि 'संरक्षित' हैं। लेकिन द्यूत सरकार की स्वीकृति के अभाव में अपराध है। भारत सरकार लाटरी का 'रोजगार' स्वयं करती है। लोकसभा में इस पर बहस के समय इसके समर्थन में वैदिक ऋचाएं भी उद्धृत की गई थीं। आज जिन्हें 'सांस्कृतिक' कार्यक्रम कहा जाता है प्राचीन भारत में वे वेश्या जैसे व्यवहार माने जाते जहाँ स्पर्श का भी सम्बन्ध सतीत्व और शील से सम्बद्ध था।

भारत में भी ऐसे विषय व्यापक रूप से रहे हैं जिनका एक सम्प्रदाय रहा है जो पाप और अपराध की पुण्यात्मक व्याख्या करता रहा है। भारतीय समाज में पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदर्श माने गये। यह चतुष्टय बौद्धों की प्रतिक्रिया है या उसके पूर्व ही था इस विषय को अलग रख दें; केवल इस पर ध्यान दें कि बौद्धों ने अर्थ और काम को अस्वीकार कर दिया। ब्रह्मचारी और भिक्षु या संन्यास की स्थिति उन्हें मान्य थी जिनसे समाज का आधार एवं उद्देश्य अपूर्ण हो गया। फलतः बौद्धों में भिक्षुणियों का विशाल सम्प्रदाय सामने आया। उनको दीक्षा देना, उपासना का अंग बनाना, मठों का निर्माण, उनके लिए आर्थिक व्याख्या करना सभी सामने आये। धर्म की अर्थ-काम मूलक ऐसी व्याख्याएं की गईं कि 'कामिनी और कांचन' की 'शिष्या एवं दक्षिणा' का स्वरूप सामने आ गया। देवदासियों का 'देवता' के साथ विवाह धार्मिक कृत्य बना। संसार के राग से मुक्त, अर्थ-काम के मायाजाल से परे, गुरुवर्ग की परम्परा ने उपासना की विधियों में 'नारी और स्वर्ण' को अनिवार्य बना दिया। अपनी स्त्री से मुक्त साधु वर्ग नारी की दीक्षा के वचन संगृहीत कर उस पर शास्त्रार्थ करने लगा।

भारतीय समाज में ही तान्त्रिक सम्प्रदाय है। निगम और आगम समान रूप से प्रमाण हैं। कोई भी विचार 'नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत' हुए बिना समाज में मान्य ही नहीं हो सकता था। तन्त्र में वाममार्ग और दक्षिण मार्ग हैं। वाममार्ग में 'पंचमकार' हैं और वे एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें वे सभी कार्य हैं जिन्हें हमने अपराध की सूची में अभी पीछे अपराध के रूप में गिनाया है। उनमें मांस, मुद्रा, मैथुन, सुरा आदि सभी तान्त्रिकों की साधना के अनिवार्य अंग हैं। इनकी पूर्त्ति पर ही 'सिद्धि-प्राप्ति' होती है। बलि में नरबलि से पशुबलि सभी ग्राह्य रहे हैं। यह 'वैदिकी हिंसा' थी; यह हिंसा हो ही नहीं सकती। सतीत्व, शील और नारी मर्यादा जिस रूप में भारतीयों ने माना उसे इन तान्त्रिकों ने जो रूप दिया उस 'धार्मिक मर्यादा' को महर्षि कौटल्य ने कठोरता से समाप्त करने का वही कार्य किया जो उन्होंने नन्दों के नाश में किया था। संन्यासियों, परिव्राजकों, आजीवकों, श्रमणों को सीधे राजदंड की सीमा में

लाकर उनके लिए कठोर दंड की व्यवस्था की। स्पष्ट है कि पाप और पुण्य की यहाँ कौन सी परिभाषा मानो जाय ? जिन्हें हम शीलहरण समझते हैं वही तान्त्रिक की साधना के केन्द्र हैं और उन्हें शास्त्रों के आधार पर सिद्ध किया जाता है क्योंकि वे उनके लिए विशेष-धर्म हैं !!

यह स्थिति वाममार्ग की ही नहीं दक्षिणमार्गियों की भी है। शंकराचार्य को भी इसमें लाया जाता है। आज भी उनके शिष्यों की श्रीविद्यार्चन की परम्परा चलती है। परशुराम कल्पसूत्र जैसे ग्रन्थ उसके आधार हैं। इसका प्रवर्तन एवं आचार्यत्व संन्यासी प्रायः करता है। इस श्रीविद्या का 'चक्र' शायद ही समझ में आए। एक समाजशास्त्र के विद्यार्थी को इसकी 'रहस्यविद्या' उस समय और भी दुरूह हो जायगी जब वह देखेगा कि इस विद्या के सभी 'पवित्र ग्रन्थों' का नाम-करण कामसूत्र से सम्बद्ध है। विधियों में कुमारी-पूजन से सुवासिनी-पूजन तक चलता है। इसमें 'पंचमेनापि सम्पूज्य ताम्बूलं दत्वा विसृजेत्' तो सामान्य विधि है। सम्भवतः एक भी मंत्र नहीं है जिसमें यश, काम, श्री, लक्ष्मी आदि की कामना नहीं की गयी हो। आश्चर्य तो यह है कि यह सब विधियाँ उन संन्यासियों से सम्पन्न होती हैं जो 'दारुमयी नारी' को अंगूठे से भी नहीं छूना चाहता और नरक द्वार के तीन द्वारों में नारी को प्रमुख मानता है। यही उसकी कामनाएं हैं जो संसार छोड़ चुका है। इन तन्त्रों के मास, संवत्सर और तिथियाँ भिन्न हैं। दीक्षा, संस्कार, परम्परा आदि स्वतन्त्र हैं। यदि उन्हें एक स्थान पर संकलित कर दिया जाय तो आज का समाज करना तो दूर सुनना भी पसन्द नहीं करेगा और प्राचीन भारत की अपराध और दंड की सूची में सभी आ जाएंगे।

तात्पर्य यह है कि इन तमाम घृणित कार्यों को धर्म का आवरण देकर उन्हें 'लक्ष्य' बनाया जाता है। क्या इसके बाद भी माना जा सकता है कि अपराध की सार्वभौम एवं शाश्वत सूची रही है ? उसमें तभी परिवर्तन हो सकता है 'जब ईश्वर मर जाय, त्याग पत्र दे दे या उसका मस्तिष्क खराब' हो जाय ! स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के पुण्यों का संरक्षक ईश्वर अब नहीं रहा और सम्भवतः कभी भी नहीं रहा। वैदिक काल से स्मृतियों तक भारतीय मनीषियों ने सदा

सामाजिक कल्याण के आधार पर कार्य किया। सामाजिक लक्ष्यों के साथ उन्होंने इसका समन्वय किया। जैसा कि हमने माना है कि उन्होंने इस प्रकार के समाज वंचकों को मद्यप एवं जुआरियों की श्रेणी में रखा और परिव्राजिकाओं को वेश्याओं की कोटि में। वे सदा ऐसे तत्त्वों के विपरीत समाज एवं राज्य की कठोर विधि से कार्य करते रहे।

स्पष्ट है कि अपराध एवं दंड की मीमांसा इसी निष्कर्ष की ओर जाती है। अपराध व्यक्ति में निष्ठ एवं आनुवंशिकता पर आधारित नहीं; उसका दायित्व सामाजिक संगठनों पर है जो ऐसे असामाजिक व्यक्तित्वों को जन्म देते हैं। यदि इन व्यक्तियों के व्यक्तित्वों का निर्धारण हम जन्म पर करने लगते हैं तो अपराध भी जन्मगत माने जाने लगते हैं जैसा कि वर्ण-व्यवस्था के साथ प्राचीन भारत में हुआ। उसी समय यह भी कहा गया कि "ईश्वर ही कह सकता है कि क्या पाप है और क्या पुण्य"। साथ ही ईश्वर की वाणी की सूची एक बार उपलब्ध हो गयी अब केवल उसकी व्याख्या ही हो सकती है। इसी ईश्वर वाणी के आधार पर शताब्दियों ही नहीं सहस्राब्दियों से नारी, दुर्गा का स्वरूप, वेश्यावृत्ति के वैधानिक रूप में चलती रही है और उसका रूप भिक्षु-णियों, देवदासियों एवं दीक्षित शिष्याओं के रूप में भी विकसित होता रहा है। और यदि उसी नारी ने अपनी आन्तरिक वृत्ति और मानसिक स्वतंत्रता में किसी का वरण करना चाहा तो उसे धर्म, समाज, राष्ट्र और स्वयं ईश्वर-वाणी की सुरक्षा के लिए अस्वीकार कर दिया गया। इसी समाज में पुर, अन्तःपुर और लीला भवन भी बने। इसमें अपना प्रतिमान स्थापित करने वाले भगवान् 'लीलापुरुषोत्तम' एवं श्रद्धेय हुए। उनकी लीलाएं वेदान्त की गुत्थियां समझी गईं। जहां उन्होंने क्रीडा की सभी 'दिव्य' हो गया क्योंकि उनके "जन्म और कर्म" दोनों दिव्य थे। क्या इन तमाम सूचियों को शाश्वत माना जा सकता है?

स्पष्ट है कि विधि, व्यक्ति, समाज और राज्य का योगफल ही अपराध संहिता का मूल रहा है। समाज की नियामक शक्तियाँ सदा कार्य करती रही हैं। उसके उपचार में ही अपराध की वास्तविक समस्या का समाधान रहा है।

अभी विभिन्न शोधों से यह भी सिद्ध किया जा रहा है कि अपराध का सम्बन्ध आर्थिक कारणों से नहीं है क्योंकि यदि गरीवी से सारे अपराध होते हैं तो समृद्ध देशों में अपराधों की कमी होनी चाहिए थी। इसके लिए अमेरिका, ब्रिटेन जैसे देशों के आंकड़े प्रकाशित किये जाते हैं। इन आधारों पर सिद्ध किया जाता है कि आज वहाँ मानसिक एवं नैतिक अपराध गरीब देशों की अपेक्षा अधिक होते हैं। इस सम्बन्ध में अच्छे साहित्य पुस्तक रूप में भी आने लगे हैं। लेकिन इस तथ्य से हम उसी निष्कर्ष पर आते हैं कि अपराध के कारण आर्थिक एवं सामाजिक हैं। समृद्ध देशों की समृद्धि वर्गीय है। उस वर्ग में 'कीलर कांड' जैसे अपराध हो रहे हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व डॉक्टर हल्वर्ट एल डन, संयुक्त राज्य अमेरिका के जनगणना विभाग के वाइटल स्टेटिक्स डिविज़न के अध्यक्ष, ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी जिसके अनुसार अमेरिका में उत्पन्न होने वाले १२ लड़कों में एक लड़का अवैध होता है। इस प्रकार १७०,००० लड़के प्रतिवर्ष प्राथमिक विद्यालयों में प्रवेश के लिए आ रहे हैं जो अपने पिता का नाम नहीं बता सकते। चर्च के विरोध के उपरान्त भी इसी संख्या के आस-पास बच्चे विद्यालयों में आते हैं जिनकी माँ भी नहीं है न बाप; क्योंकि दोनों ने परस्पर तलाक में अपनी व्यवस्था कर ली किन्तु बच्चे निराश्रय रह गये।

समृद्ध देशों में इस प्रकार की व्यवस्था समृद्ध वर्ग में है जिसे हम इस रूप में कह सकते हैं कि पूंजीवादी समाज में सामन्तवादी प्रवृत्तियों का 'वैज्ञानिक ढंग' का विकास हो रहा है। इस सिक्के का एक दूसरा भी पहलू है। जहाँ उस समाज में उक्त प्रकार के अपराध हैं वहीं गरीव वर्ग के भी अपराध उसी अनुपात में 'आर्थिक' ढंग के हो रहे हैं। अतएव यह समृद्धि ही अपराध का कारण बन रही है। हम इस विषय को सामाजिक विषय से अलग नहीं कर सकते हैं। हम प्राचीन भारत में अपराध एवं दंड के अध्ययन में सामाजिक हेतुओं को सार्वभौम रूप में पाते हैं। इस विषय की स्थापना में हम प्रथम अध्याय से प्रारम्भ कर अन्त तक इसके तथ्य संकलित करते रहे हैं। इसमें पूर्व कल्पना के लिए विषय को मोड़ने का प्रयास नहीं किया है। अधिकतम स्थलों

पर तो बिना समालोचना के विषय ही ज्यों का त्यों रख दिया गया है। लेकिन पुस्तक की विषय वस्तु की मूल धारणा इतनी स्पष्ट है कि उसे अस्वीकार करना स्वयं शैक्षणिक अपराध है। वैदिककाल से स्मृति काल तक का समाज परिवर्त्तन के साथ अपराध एवं दंड संहिता में परिवर्त्तन से एक ओर वर्गीय समाज की व्यवस्था व्यक्त करता है और दूसरी ओर इतने विशाल समाज की एकात्मकता भी प्रस्तुत करता है। इससे छोटे क्षेत्र में ही ग्रीक आदि समाजों ने वर्गीय विद्रोह का सामना किया किन्तु यहाँ कोई भी ऐसी घटना नहीं होने पाती है। कारण स्पष्ट है कि वर्गीय विभाजन की रेखा जहाँ समाज को विभक्त करती है वहीं उसे नीचे से ऊपर विकसित भी करती है। दंड का राजनीतिक आधार विषमतामूलक नहीं था। उसके अनेक ऐसे तत्व रहे हैं जो मानवता के व्यापक आधार पर स्थिर थे और उस संस्कृति को मानवता का संदेश देते रहे।

मूल संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त सहायक अन्य ग्रन्थ

B. A. Saletore : Ancient Indian Political Thought and Institutions : Asia.

Charlse Drekmeier : Kingship and Community in Early India : Oxford.

P. Thomas : Indian Women Through The Ages : Asia.

H. E. Barnes : Contemporary Social Theory.

E. Cassirier : The Myth of the State.

Roscoe Pound : Social Change Through Law.

Morris R. Cohn : Law and Social Order.

Roscoe Pound : An Introduction to The Legal Philosophy : Yale.

T. H. Green : Political Obligations : Longmans.

R. S. Sharma : Shudras in Ancient India : Benaras.

B. N. Datta : Studies in Indian Social Polity : Calcutta.

U. N. Ghoshal : A Htstory of Indian Political Ideas : Bombay.

E. W. Hopkins : The Mutual Relation of The Four Castes : Leipzig.

K. P. Jayasawal : Hindu Polity.

A. S. Altekar : State and Government in Ancient India.

P. V. Kane : History of Dharmashastra.

A. D. Pusalker : History and Culture of the Indian People : London.

S. Radhakrishnan : The Hindu View of Life : London.

P. H. Valavalkar : Hindu Social Institutions : Baroda.

B. K. Ghosha : The Hindu Ideal of Life : Calcutta.

I. J. Aniaria : The Nature and Grounds of Political Obligation in The Hindu State : London.

N. Bosanquet : The Philosophical Theory of the State : MacMillan.

M. N. Dhalla : Zorostrian Civilisation : Ted.

Charles R. Kennedy : Oration of Demansthnese : (Translation).

W. G. Holmes : The Age of Justinian and Theodora : Bell.

P. W. Paton : A Text Book of Juriprudence : Clarendon.

Schlesinger Rudolf : Social Legal Theory : Paul.

Vinogradoff : Common Sense in Law :
History of Jurisprudence.

John Salmond : Jurisprudence.

George Gurwitch : Sociology of Law : Paul.

W. Friedmann : Legal Theory : London.

H. S. Maine : Ancient Law.

G. H. Mees : Dharma and Society : London.

Subramania Pillai : Principles of Criminology : Calcutta.

P. N. Sen : Hindu Jurisprudence.

R. P. Dasgupta : Crime and Punishment in Ancient India : Calcutta.

Radha Vinoda Pal : History of Hindu Law : Calcutta.

K. P. Jayasawal : Manu and Yajyavalkya : Calcutta.

Dr. Harihar Nath Tripathi : State and Judiciary in Ancient India (In Press) : Benaras.

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी : भारतीय विचार-धारा : बनारस ।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

(हिन्दी रूपान्तर)

श्री वाचस्पति शास्त्री गैरोला

अर्थशास्त्र का सूत्रक्रम से व्यवस्थित अनुवाद मात्र इस ग्रन्थ में दिया गया है। भाषा सरल एवं प्रवाहयुक्त है। विशद भूमिका में वैदिक युग के आदिम साम्यसंघ से लेकर दासराज्यों, गणराज्यों और उनके बाद अधिष्ठित साम्राज्यों के उदय-अस्त का समीक्षण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया गया है। अर्थशास्त्र पर नये ढंग से विचार करने वाले कार्ल मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन जैसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों की विस्तार से समीक्षा की गई है। परिशिष्ट में सानुवाद चाणक्यसूत्र तथा अर्थसहित पारिभाषिक शब्दावली भी संलग्न है। मूल्य १०-००